मनोरंजन पुस्तकमाला-१

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

आदर्श जीवन

लेखक

रामचंद्र शुक्ल

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३०

प्रथम संस्करण] [मूल्य १)

वक्तव्य

जिस पुस्तक के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है, उसका नाम है Plain Living and High Thinking और वह अँगरेजी की उन पुस्तकों में से है जिनका उद्देश्य युवा पुरुषों के अंतःकरण में उत्तम संस्कार उत्पन्न करना है। इस पुस्तक में विवेक, बुद्धि और स्वास्थ्य इन तीनों की वृद्धि के संबंध में अलग अलग विचार करके मनुष्य-जीवन का एक सर्वांगपूर्ण और उच्च आदर्श सामने रखा गया है। किस प्रकार के आचरण से मनुष्य अपना जन्म सफल कर सकता है, किस रीति पर चलने से वह संसार में सुख और यश का भागी हो सकता है, यदि ऐसी बातों का जानना आवश्यक है तो ऐसी पुस्तक का पढ़ना भी आवश्यक है। हिंदी में ऐसी पुस्तकें देखने की चाह अब लोगों को हो चली है।

अँगरेजी पुस्तक में ग्रंथकार ने 'अध्ययन' के प्रसंग में, किन किन विषयों की कौन सी पुस्तकें किस क्रम से पढ़ी जायँ, इसका बड़े विस्तार के साथ कई प्रकरणों में ऐसा वर्णन किया है जिससे उन उन विषयों के इतिहास का भी परिज्ञान हो जाता है। वे सब प्रकरण इस पुस्तक में छोड़ दिए गए हैं। एक बात और भी की गई है। जहाँ जहाँ अँगरेजी पुस्तक में

दृष्टांत रूप से योरप के प्रसिद्ध पुरुषों के वृत्तांत आए हैं, वहाँ वहाँ यथासंभव भारतीय पुरुषों के दृष्टांत दिए गए हैं। पुस्तक को इस देश की रीति-नीति के अनुकूल करने के लिये और भी बहुत सी बातें घटाई बढ़ाई गई हैं।

काशी
२ जून, १९१४

रामचंद्र शुक्ल

दूसरा संस्करण

इस संस्करण में कुछ घटाया बढ़ाया नहीं गया है। सब बातें ज्यों की त्यों हैं। हाँ, भाषा संबंधिनी जो त्रुटियाँ किसी कारण से रह गई थीं वे, जहाँ तक हो सका है, दूर कर दी गई हैं।

काशी
१८ जुलाई, १९१७

रामचंद्र शुक्ल

सूची

आदर्श जीवन

——:०:——

पहला प्रकरण

पारिवारिक जीवन

डाक्टर ब्राउन ने अपनी एक पुस्तक में अपने पिता का, जो स्काटलैंड देश के एक प्रसिद्ध पादरी थे, कुछ वृत्तांत लिखा है जिसका एक अंश अत्यंत हृदयग्राही है। वे लिखते हैं—"अपनी माता की मृत्यु के उपरांत मैं उन्हीं के पास सोता था। उनका पलँग उनके पढ़ने लिखने के छोटे कमरे ही में रहता था जिसमें एक बहुत छोटा सा आतिशदान भी था। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि किस प्रकार वे उन मोटी मोटी बेढंगी जरमन भाषा की पुस्तकों को उठाते थे और उनसे चारों ओर घिरकर उनमें गड़ से जाते थे। जिस समय वे आकुलता के साथ उनके पन्नों को काटते जाते, अपने स्वभाव के अनुसार उनमें मग्न होकर झट झट उनका रसास्वादन करते जाते और बेढंगे कटे हुए पन्नों से कागज की धज्जियाँ निकाल-कर मेरे आगे फेंकते जाते थे, मैं टक लगाए उनकी ओर

देखता रहता था। जब तक मैं जागता रहता था, वे बिस्तर पर नहीं जाते थे। पर कभी कभी ऐसा होता कि बहुत रात गए वा सबेरा होते होते मेरी नींद टूटती और मैं देखता कि आग बुझ गई है, उजाला खिड़की के रास्ते कुछ कुछ आ रहा है, उनका सुंदर गंभीर मुख झुका हुआ है और उनकी दृष्टि उन्हीं पुस्तकों की ओर गड़ी हुई है। मेरी आहट सुनकर वे मुझे, मेरी माँ का रखा हुआ, प्यार का नाम लेकर पुकारते और बिस्तर पर आकर मेरे गरम शरीर को छाती से लगाकर सो रहते थे''। इस वृत्तांत से हमें उस स्नेह और विश्वास के संबंध का पूरा आदर्श मिलता है जो पिता-पुत्र के बीच होना चाहिए। पुत्र पिता की ओर अन्वीक्षणयुक्त स्नेह से देख रहा है और पिता पुत्र को गहरी और सच्ची सहानुभूति से छाती से लगा रहा है। माता और पुत्र का स्नेह ऐसा नहीं होता। उसमें एक ओर शासन के भाव की कमी रहती है, दूसरी ओर आज्ञापालन के भाव की। पर पिता-पुत्र के स्नेह में यद्यपि मृदुलता कम रहती है, पर विश्वास की मात्रा विशेष रहती है, यद्यपि वेग कम रहता है पर विवेक अधिक रहता है, यद्यपि अवलंबन का मृदुल भाव कम रहता है पर समता की बुद्धि विशेष रहती है। चाहे पिता पुत्र के मनोविकारों को उतना न जाने, पर वह उसकी बुद्धि की विशेष थाह रखता है। उसका पुत्र के साथ तीन प्रकार का संबंध होता है—पथदर्शक का, तत्त्वचिंतक का और मित्र का।

डाक्टर ब्राउन और उनके पिता के बीच जैसा व्यवहार था, उससे दोनों को लाभ था। उसके द्वारा पिता के भाव भी पुष्ट और उत्तेजित होते थे—वह अपने आप ही में मग्न रहने तथा रुखाई और अल्प भाषण के बोझ से दबे रहने से बचता था। पुत्र के लिये भी यह एक खासी शिक्षा-पद्धति थी। इसके द्वारा उसकी बुद्धि और विवेक की भी उन्नति होती थी और उसे एक प्रकार का स्थायी आनंद भी मिलता था। बुद्धिमान् और सुशील पिता से जितना हम सीखते हैं, उतना सैकड़ों शिक्षकों से भी नहीं। पिता सबसे बढ़कर और सच्चा शिक्षक है जिसके दिए हुए पाठों को हम सदैव पढ़ा करते हैं। ये पाठ केवल उसके मुँह से निकले हुए शब्द ही नहीं होते बल्कि उसके आचार-व्यवहार के रूप में भी होते हैं। क्या कोई कह सकता है कि डाक्टर ब्राउन को उस आदर्श पुरुष के सत्संग से कितना लाभ पहुँचा होगा जिसमें केवल बुद्धि-बल ही न था बल्कि आध्यात्मिक बल भी अत्यंत अधिक था। उसमें धैर्य, आत्म-निग्रह, स्वभाव की कोमलता, भावों की पुष्टता, शिष्टता, पवित्रता और धर्मपरायणता इत्यादि गुण ऐसे थे जिनका स्थायी प्रभाव पुत्र पर हर घड़ी पड़ता था। उसकी साहित्य-संबंधिनी सहृदयता से भी बालक ब्राउन को बहुत ही लाभ पहुँचा। जब वह बाइबिल के ओजस्वी अंशों तथा मिल्टन के पद्यों को जोर जोर से पढ़ता था, तब बालक की बुद्धि और सहृदयता का विकास होता था।

इस प्रकार की अनियमित घरेलू शिक्षा से लाभ उठाने के लिये श्रोता में कुछ श्रद्धा, सीखने की स्नेहपूर्ण तत्परता तथा तीक्ष्ण बुद्धि वा समझ होनी चाहिए। खेद के साथ कहना पड़ता है कि ये बातें ऐसी हैं जो आजकल के लड़कों वा नवयुवकों में नहीं पाई जातीं। पहले की अपेक्षा अब परिवार-बंधन शिथिल हो गए हैं। अब घर में भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा शासन का विरोध फैल रहा है। आजकल के नाटकों और उपन्यासों को देखने से यह बात साफ झलकती है कि पिता-पुत्र के संबंध का भाव जैसा पहले समय में था, वैसा अब नहीं रह गया है, अब उसमें घटती हो रही है। प्राय: देखा जाता है कि पिता अब ऐसा शिक्षक नहीं रह गया है जिसकी बातों को पुत्र श्रद्धा और स्नेह से सुने। अब वह ऐसा विश्वासपात्र सुहृद नहीं समझा जाता है कि पुत्र कठिनाई के समय उसकी सलाह को सच्ची और कल्याणकारी समझ उसके लिये उसके पास जाय। अब वह ऐसा शासक नहीं रह गया है जिसकी सामान्य से सामान्य इच्छा को भी पुत्र अपने लिये अटल आदेश समझे। आजकल के कुछ उपन्यासों का रामायण, महाभारत आदि से मिलान करने पर इस परिवर्त्तन का पता अच्छी तरह चल सकता है। दशरथ की आज्ञा को राम ने किस श्रद्धा और शांति के साथ सुना और प्रसन्न-मुख वन का रास्ता पकड़ा। भीष्म ने किस प्रकार अविवाहित रहने की कठिन प्रतिज्ञा करके अपने पिता को

संतुष्ट किया। इसके विरुद्ध आजकल के नए ढंग के उप-न्यासों में पिता लेखकों की हँसी-दिल्लगी का एक खासा लक्ष्य होता है। उसे चकमा देना, बेवक़ूफ़ बनाना, अपमानित करना लेखकों का एक कौशल समझा जाता है। किसी किसी उपन्यास में तो वह भद्देपन और गँवारपन की मूर्त्ति बनाया जाता है और उसका अपमान नवशिक्षित और समाज-संशोधक पुत्र बड़ी बहादुरी के साथ करते दिखाए जाते हैं।

हमारे पूर्वजों की यह चाल नहीं थी। यह ठीक है कि आजकल की तरह उस समय भी मूर्ख पिता और बेकहे लड़के होते थे, पर उस समय पितृ-शासन का आदर्श ऊँचा था। जहाँ आजकल लड़के अवज्ञा करते हैं, वहाँ उस समय वे बात सुनते और मानते थे। क्या पूर्व, क्या पश्चिम सर्वत्र यही व्यवस्था थी। इँगलैंड में सर फिलिप सिडनी और उसके पिता के संबंध को देखिए। जटफन के विजेता और 'आर्क-डिया' के ग्रंथकार सिडनी अपने पिता पर अत्यंत स्नेह और पूज्यबुद्धि रखते थे। वे जानते थे कि पिता ही से हमने अपने शरीर की सुंदरता, अपनी बुद्धि की प्रौढ़ता तथा हृदय की दृढ़ता और वीरता प्राप्त की है। पिता भी सिडनी ऐसे पुत्र को पाकर अभिमान से फूले अंगों न समाता था। लार्ड लिटन ने अपने एक उपन्यास में कैक्स्टन नामक एक युवक का उसके पिता के साथ आदर्श संबंध दिखलाया है। उसमें पिता बुद्धि, धीरता और कोमलता का आगार है और पुत्र श्रद्धा, स्नेह

और आज्ञाकारिता का। युवक कैक्स्टन एक स्थल पर कहता है—"मैं प्राय: औरों के साथ की लंबी सैर छोड़, क्रिकेट का खेल छोड़, मछली का शिकार छोड़, अपने पिता के साथ बगीचे की चहारदीवारी के किनारे धीरे धीरे टहलने जाता। वे कभी तो बिलकुल चुप रहते, कभी बीती बातों को सोचते हुए आगे की बातों की चिंता करते। पर जिस समय वे अपनी विद्या का भांडार खोलने लगते और बीच बीच में चुट-कुले छोड़ते जाते, उस समय एक अपूर्व आनंद आता था।" कैक्स्टन कोई कठिनाई आ पड़ने पर पिता ही के पास जाता, दु:ख की घड़ी उसी के पास बैठकर बिताता और अपने हौसलों और आशाओं को उसी के सामने कहता। बड़ा भारी संकट आने पर जब कि दु:ख का एक अटल पहाड़ उसके सामने दिखाई दिया और वह चुपचाप मन मारकर बैठा, तो क्या देखता है कि उसका पिता उसी की ओर टक लगाए आर्द्रचित्त देख रहा है। पर पुत्र को ऐसा पिता मिले, इसके लिये यह भी आवश्यक है कि पिता को ऐसा पुत्र मिले। परस्पर सहानुभूति तथा स्नेह की समानता चाहिए। पुत्र को पिता के वय का, उसके अधिक अनुभव का, उसके उन दु:खों का जिन्हें उसने उसके लिये उठाया है, सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। पिता-पुत्र के संबंध में पुत्र को पिता के स्वाभाविक बड़प्पन को स्नेहपूर्वक खुले दिल से स्वीकार करना चाहिए। बहुत से पुत्र ऐसे होते हैं जो बिलकुल बुरे, बेकहे और

स्नेहशून्य तो नहीं होते, पर वे अपने पिता के साथ मान-मर्यादा का भाव छोड़ इस प्रकार हेलमेल का व्यवहार रखते हैं, माना वह उनका कोई गहरा संगी है। वे उससे चलती बाजारू बोली में बातचीत करते हैं और उसके प्रति इतना सम्मान नहीं दिखाते जितना एक बिना जाने सुने आदमी के प्रति दिखाते हैं। यह बेअदबी तिरस्कार से भी बुरी है।

मैं उन लोगों के लिये लिखता हूँ जो अपना जीवन उपयोगी बनाना चाहते हों, जो ईश्वर के दिए हुए गुणों और शक्तियों से भरपूर लाभ उठाना चाहते हों, जो संसार में अपने दिन पूरे करने के उपरांत अपने कर्म्मक्षेत्र के बीच—चाहे वह छोटा हो या बड़ा—अपनी स्थिति के द्वारा कुछ भलाई छोड़ जाना चाहते हों। मैं ऐसे लोगों से आत्मसंस्कार के निमित्त, अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की शिक्षा के निमित्त तथा अपने मनोवेगों के परिष्कार के निमित्त शुभ प्रयत्न करने का अनुरोध करता हूँ। जरमी टेलर (Jermy Taylor) कहते हैं—"जिंदगी एक बाजी के समान है। हार-जीत तो हमारे हाथ नहीं है, पर बाजी का खेलना हमारे हाथ में है।" मैं अपने पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि वे सीखें कि यह बाजी किस तरह खेलनी चाहिए। प्रतिभा और अर्जित शक्ति में—अर्थात् उस शक्ति में जो ईश्वरप्रदत्त है और उसमें जो हम साधन वा अभ्यास द्वारा प्राप्त करते हैं—भेद माना गया है, और ठीक भी है। पर यह भेद इतना सूक्ष्म है कि जो पुरुष अपने

संकल्प में दृढ़ और अपने कर्म्म में तत्पर है, वह उसे एक प्रकार से मिटा सकता है। अथवा यों कहिए कि मनुष्य की प्रतिभा भी बहुत कुछ उसी के हाथ में है। बुद्धि वा समझ को हम परिश्रम का फल कह सकते हैं और स्वच्छ विवेक को उपयुक्त शिक्षा वा संस्कार का। डाक्टर आर्नल्ड (Dr. Arnold) ने इसी अभिप्राय से लिखा है—"इस जगत् में सबसे बड़ी तारीफ की बात यह है कि जिन लोगों में स्वाभाविक शक्ति की कमी रहती है, यदि वे उसके लिये सच्चो साधना और अभ्यास करें तो परमेश्वर उन पर अनुग्रह करता है। बक्स्टन (Howell Buxton) ने भी कहा है—"युवा पुरुष बहुत से अंशों में जो होना चाहें, वह हो सकते हैं।" एरी शेफर (Ary Scheffer) ही की बात को लीजिए जो कहते हैं—"जीवन में शारीरिक और मानसिक परिश्रम के बिना कोई फल नहीं मिलता।..... दृढ़ चित्त और ऊँचे उद्देश्यवाला मनुष्य जो करना चाहे, कर सकता है।" जिस प्रकार बहुत से लोग अपनी सामर्थ्य पर बहुत अधिक भरोसा करके, अपनी पहुँच का विचार न करके अकृतकार्य होते हैं, उसी प्रकार बहुतेरे लोग साहसहीनता और अपनी सामर्थ्य पर अविश्वास के कारण अकृतकार्य होते हैं, जिससे उनकी सारी शक्ति मारी जाती है और उनके सारे प्रयत्नों का सार निकल जाता है। यह एक पुरानी कहावत है कि जब तक मनुष्य हाथ नहीं लगाता, तब तक वह नहीं जान सकता कि मैं कुछ कर सकता

हूँ या नहीं। हमें चाहिए कि जो करना हो, उसे अच्छी तरह आरंभ कर दें और दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ते जायँ। हमें आरंभ अवश्य कर देना चाहिए; क्योंकि यह बँधी हुई बात है कि हममें से हर एक कुछ न कुछ कर सकता है और करेगा, यदि दो एक बार अकृतकार्य होकर हिम्मत न हारे। एकलव्य यदि द्रोणाचार्य के यहाँ से निराश होकर धनुर्विद्या का अभ्यास छोड़ देता तो वह उसमें इतना कुशल न होता। पैलिसी(Palissy) कभी तामलेट वा लुकदार बरतन बनाने की युक्ति न निकाल सकता, यदि वह पहले-पहल बरतनों को भट्ठी में चिटकते देख अपनी धौंकनी आदि फेंक किनारे हो जाता। प्रसिद्ध फरासीसी महोपदेशक लकार्डेयर (Locordoire) यदि सन राच (Son Roch) के गिरजे में अपने को बोलने में असमर्थ देख हतोत्साह हो जाता, तो वह एक गली गली घूमनेवाला पादरी ही रह जाता। सब बातों का तत्त्व यह है कि हम अवसर को हाथ से न जाने दें, हम अपनी प्रत्येक शक्ति का उपयोग करें, और दृढ़ता, आशा और धीरता के साथ उन्नति के पथ पर आगे बढ़ते जायँ। स्वसंस्कार का कार्य इसी प्रकार सुसंपन्न होगा।

इस विषय में विशेष आगे चलकर कहा जायगा। हम यहाँ पर यह माने लेते हैं कि युवक पाठक अपना जीवन श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं और ईश्वर की कृपा से प्राप्त मनुष्य-जन्म को सार्थक करना चाहते हैं। वे स्वशिक्षा के महत्कार्य में लग

गए हैं। इस अवस्था में उन्हें अपनी शिक्षा का आरंभ घर ही में करना चाहिए। उन्हें पुत्र वा भाई के रूप में शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इन रूपों में उन्हें स्वार्थत्याग, अधीनता, सच्चाई, ईमानदारी इत्यादि गुणों का अभ्यास करना चाहिए, जो जीवन के संग्राम में कवच और अस्त्र का काम देंगे। घर पर की सीखी हुई यह बातें बाहर भी पूरा काम देंगी। ये घरेलू संस्कार संसार की विकट यात्रा में रक्षक देवताओं के समान उनके साथ रहेंगे, उन्हें लड़खड़ाकर गिरने से बचावेंगे, उनके कानों में आशा का मधुर संगीत डालेंगे और उनके आगे आगे स्वच्छ सूर्य का प्रकाश फैलावेंगे। इसी लिये मैंने पुस्तक के आरंभ ही में पिता-पुत्र के संबंध का एक सुंदर दृष्टांत दिखाया है। पिता के प्रति पुत्र के तीन कर्त्तव्य हैं—स्नेह, सम्मान और आज्ञापालन। यह कहा जा सकता है कि जहाँ आज्ञाकारिता और सम्मान नहीं, वहाँ स्नेह नहीं रह सकता। आजकल माता-पिता के प्रति लीक पीटने भर को आधा स्वार्थमय स्नेह ही, जिसमें अधीनता और विवेक की प्रवृत्ति नहीं होती, बहुत से लड़कों में होता है। यह वह गूढ़, पवित्र और सच्चा स्नेह नहीं है जिसे पुत्र अपना कर्त्तव्य समझे और पिता जिसका अभिमान करे। जब कोई नवयुवक घर से ऊब जाय या अपनी गुप्त बातों को पिता के कानों में डालने से हिचके, तो उसे तुरंत सँभल जाना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि जिस मार्ग पर मैंने पैर रखा है, उससे मेरा

सत्यानाश होगा। जिस कार्य में वह प्रवृत्त हो, उसकी भलाई-बुराई की जाँच के लिये सबसे सीधा उपाय यह है कि वह उसे अपने परिवार के लोगों के सामने प्रकट करे। इस बात को विचारे कि क्या उसकी चर्चा घर में अपने माता-पिता के सामने कर सकता है? क्या वह कार्य इस योग्य है कि उसकी परीक्षा परिवार के बीच हो? जब किसी रासायनिक द्रव्य का एक बार विश्लेषण हो जाता है, तब उसके संयोजक अंश बराबर एक दूसरे से उसी प्रकार पृथक् होते जाते हैं जिस प्रकार पहले वे एक दूसरे की ओर आकर्षित होते थे। इसी प्रकार जब कोई युवक एक बार घर से अलग कोई काम कर बैठता है, तब वह बराबर उससे दूर ही पड़ता जाता है। अतः इस प्रवृत्ति को तुरंत रोकना चाहिए, नहीं तो आगे चलकर इसका रोकना कठिन हो जायगा। उसके और उसके परिवार के बीच जितना ही अधिक अंतर बढ़ता जायगा, उतना ही उसे उस अंतर को मिटाने में संकोच होगा। पहाड़ की चोटी से लुढ़ककर जो वस्तु जितनी ही नीचे आ जाती है, उतनी ही उसकी गति नीचे की ओर बढ़ती जाती है। जब किसी युवक को यह मालूम हो कि उसका घर अब उसे उतना अच्छा नहीं लगता, जितना पहले लगता था, तब उसे अपने हृदय पर हाथ रखकर टटोलना चाहिए कि "क्यों?" बहुतेरे चंचल-प्रकृति नवयुवकों का यह सिद्धांत हो रहा है कि किसी पर श्रद्धा करना ठीक नहीं। वे किसी पर श्रद्धा नहीं

रखते, किसी से स्नेह नहीं करते। उनकी समझ में परिवार से स्नेह करना हृदय की दुर्बलता है; और जो पुत्र अपने माता-पिता से स्नेह रखता है, वह या तो दुध-मुँहा बच्चा है अथवा पाखंड में फँसा हुआ धूर्त है। जिस युवक ने स्वसंस्कार का कार्य हाथ में लिया हो और जीवन के कर्त्तव्य, उद्देश्य और अवसर के विषय में जिसके विचार उच्च हों, उसे ऐसे लोगों का साथ न करना चाहिए; क्योंकि उनका मस्तिष्क (बुद्धि से) वैसा ही शून्य रहता है जैसा कि उनका हृदय (स्नेह आदि से)। बात यह है कि श्रद्धा की कमी के साथ साथ बुद्धि-शक्ति का भी ह्रास होता है; अतः उनके साथ से बुद्धि तो कुछ बढ़ेगी नहीं और नैतिक क्षति बड़ी भारी होगी। यह बात मैं अत्यंत आग्रह के साथ कहता हूँ कि पारिवारिक स्नेह अपनी पवित्रता, अपने उच्च प्रभाव तथा अपनी स्थिरता के कारण स्वसंस्कार का मूल मंत्र है।

जब हम अपने चारों ओर दृष्टि डालते हैं तब जो बात हमें सब वस्तुओं में दिखाई पड़ती है, वह परिवर्त्तनशीलता है। फूल कुम्हला जाते हैं और पत्तियाँ सूखकर गिर पड़ती हैं। वसंत में फिर नए फूल होते हैं और नए पत्तों की हरियाली छा जाती है; पर काल पाकर वे फूल-पत्ते भी चले जाते हैं। एक मुरझाई आशा के उपरांत दूसरी आशा दिखाई पड़ती है। एक वर्ष के उपरांत दूसरे वर्ष का आगम और भोग हमारे सामने आता है। दिन आते हैं और जाते हैं। ज्योंही हम

वर्त्तमान से परिचित होते हैं और समझते हैं कि वह हमारे हाथ में है, वह चट व्यतीत हो जाता है और हम आगे उस भविष्य की ओर देखते हैं जिसका विस्तार भी वर्त्तमान की अस्थिरता के कारण संकुचित होता जाता है। यहाँ एक कहानी याद आती है। एक मनुष्य यह सुनकर दौड़ा कि इंद्रधनुष पृथिवी पर जिस स्थान से उठा है, वहाँ सोने का एक कटोरा है। पर वह ज्यों ज्यों बढ़ता गया, त्यों त्यों उसे इंद्रधनुष भी आगे बढ़ता दिखाई पड़ा और अंत में आकाश में विलीन हो गया। इसी प्रकार कालसमुद्र में बुलबुले पर बुलबुले उठते हैं और अदृश्य होते हैं। पर कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका नाश नहीं होता, जिन्हें काल नहीं स्पर्श करता। हमारा घरेलू स्नेह, हमारी पारिवारिक सहृदयता, उदारता और स्वार्थ-त्याग—ये वस्तुएँ ऐसी हैं जो एक ऐसे अमूल्य और अक्षय्य भांडार के रूप में संचित होती जाती हैं जो अंत में उस अनंत प्रेमस्वरूप (परमेश्वर) में लीन हो जायगा। हमारी प्रकृति में जो उत्कृष्टता है वह मृत्यु के उपरांत भी बनी रहेगी। जिस प्रकार हमारी आत्मा अमर है, उसी प्रकार उसका अंशस्वरूप हृदय भी अमर है। जिस प्रकार हमारा बुद्धि-ज्ञान बना रहता है, उसी प्रकार हमारे हृदय के भाव भी बने रहते हैं; क्योंकि वे आत्मा के अंश हैं और उनके बिना हमारा अस्तित्व ही खंडित और अपूर्ण रहेगा। पितृस्नेह के भाव को निकाल लीजिए तो कृष्णकुमारी में बचता क्या है? पद्मिनी उस पति-प्रेम और

पातिव्रत भाव के बिना क्या रह जायगी जिसके कारण उसने अपने जी पर खेलकर अपने पति को छुड़ाया था और वह अंत में चिता में कूदी थी ?

क्या हृदय के भावों की यह अमरता ऐसी नहीं है जिसके लिये हम उनका अभ्यास करें ? यदि वे मृदुल और गंभीर भाव ऐसे हैं जिनके बल से माता और शिशु, पिता और पुत्र, भाई और बहन परस्पर संबंध-सूत्र में बँधे रहते हैं और जो मृत्यु के उपरांत भी बने रहनेवाले हैं, तो हम उनके उपार्जन के लिये पूरा यत्न क्यों न करें ? इस प्रकार का यत्न हमारी नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा का एक अंग होगा—उस शिक्षा का एक अंग होगा जिसके द्वारा हम अपने जीवन के कर्त्तव्यों में समर्थ होंगे। यदि हम विचारकर देखें तो विदित होगा कि हमारा परिवार परमात्मा की ओर से स्थापित एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम अपने अंत:करण को पवित्र कर सकते हैं और अपनी आत्मा में सत्त्वगुण को पुष्ट कर सकते हैं। वह कोई शिक्षा नहीं जिसमें इसका विचार न किया जाय। एक महापुरुष का कथन है—"थोड़े से ऐसे जीवों के, जो एक साथ खाते, पीते, सोते और उठते-बैठते हैं, एक ही घर में रहने से परिवार नहीं बन जाता। इस तरह तो हम घर की ईंटों ही को परिवार कह सकते हैं। किसी परिवार को, चाहे उसके आधे लोग पृथिवी के भिन्न भिन्न भागों में रहते हों, हम सुख-संपदापूर्ण परिवार कह सकते हैं। पारिवारिक

जीवन के सच्चे अंग तो प्रेमपूर्वक स्मरण, परस्पर का सद्भाव, मंगल कामना, सहानुभूति, माता-पिता का आशीर्वाद, पुत्र का स्नेह, भगिनी का अभिमान, भाई का प्यार आदि हैं।"

यह कहावत बहुत ठीक है कि हम किसी वस्तु का गुण तब तक नहीं जानते जब तक उसे खो नहीं देते। हम जिन वस्तुओं को दिन-रात देखते रहते हैं, उनकी कदर तब तक नहीं जानते जब तक कि उन्हें खो नहीं बैठते। नदी किनारे के गुलाब को जो नित्य देखता है, उसके लिये वह कुछ भी नहीं है; पर आस्ट्रेलिया के उजाड़ में घूमनेवाले के चित्त में उसके मुरझाए हुए दलों को देखकर अनेक वर्णनातीत भाव उदय होंगे : उनमें उसे मृदुल और अनूठे स्वरूपों का आभास मिलेगा। इसी प्रकार बहुत से युवा पुरुष, माता के स्नेह, उसके अपूर्व धैर्य और त्याग का मूल्य तभी समझते हैं जब उनकी स्मृति मात्र रह जाती है। जब वे चिता के किनारे खड़े होकर उसके ऊपर लकड़ियों का ढेर लगता देखते हैं जो किसी समय उन पर प्राण तक न्योछावर करनेवाली उनकी कोमल-हृदया माता थी, तब उनकी आँखें खुलती हैं और वे हाय मारते हुए अपनी हानि को समझते हैं। पर यह भी कोई बात है कि जब तक इस भीषणता के साथ आँख न खोली जाय, तब तक चेत न हो ? यह तो सत्य है कि तुम्हारे जीवन के अंतिम काल तक माता की स्मृति के गूढ़ और नीरव प्रभाव के द्वारा तुम्हारी भलाई होती रहेगी। एक अमेरिकन राजनीतिज्ञ कहता है—

"मैं नास्तिक हो गया होता यदि मुझे वे दिन स्मरण न होते जब मेरी माँ मेरे हस्थों को अपने हाथों में लेकर मुझसे कहलाती थी कि 'हे परमेश्वर! मेरी प्रार्थना सुन'।" इसी प्रकार जान न्यूटन (John Newton of Olney) नामक एक व्यक्ति बाल्यावस्था में अपनी माता से प्राप्त धर्मशिक्षा के संस्कार के बल से कुमार्ग में पड़ने से बच गया था। थोड़ा सोचो तो कि एक माता के न रहने से तुम्हारा कितना सच्चा सुख चला गया। तुम्हें फिर वह सुख कहाँ मिलेगा जो प्रेम के परस्पर अनुसरण में मिलता है? माता का आलिंगन, माता की स्नेह-दृष्टि जिसमें परस्पर के भाव-परिचय का प्रमाण मिलता है—माता का मंद हास, सुख-दुःख का कथन-श्रवण फिर कहाँ? ये सब बातें गईं। इनसे तुम्हारा क्या लाभ होगा, तुम यह समझने भी न पाए थे कि सब बातें चली गईं।

स्वार्थ-दृष्टि से भी और परमार्थ-दृष्टि से भी पारिवारिक स्नेह का अर्जन आवश्यक है। सच पूछिए तो इस प्रकार के अर्जन से मनुष्य स्वार्थपर होने से बचता है। यदि हम अपने सुख का ध्यान रखेंगे, तो हमें अंत में दूसरों के सुख का ध्यान रखना ही पड़ेगा। अतः हम जो ऊपर कह आए हैं, ठीक कह आए हैं कि परिवार एक पाठशाला वा शिक्षा देनेवाली संस्था है जिससे स्वसंस्कार में सहायता मिलती है; क्योंकि पारिवारिक सुख के लिये सबसे पहली बात यह है कि प्रत्येक प्राणी आत्मनिग्रह का अभ्यास करे। यदि प्रत्येक प्राणी

अपनी ही बात रखना चाहे, अपनी ही इच्छा के अनुसार सब कुछ होने का हठ करे, अपनी ही रुचि और प्रवृत्ति को सबके ऊपर रखना चाहे तो घर में सच्ची शांति कभी नहीं रह सकती। जहाँ एक बार किसी का क्रोध भड़का कि सारा घर उद्विग्न और व्याकुल हो जायगा, प्रत्येक प्राणी की शांति भंग होगी। पारिवारिक संबंध के सुखपूर्वक निर्वाह के लिये युवा पुरुष को चाहिए कि वह बराबर आत्मसंवरण का उदाहरण दिखलावे, आवेग में आकर कोई बात मुँह से न निकाले, दूसरे की त्योरी न चढ़ने दे और मीठे वचन बोले जिनसे क्रोध शांत होता है। एक साधु के साथ कई दुर्जनों की रक्षा हो जाती है। घर में एक मधुरभाषी प्राणी, कोरस में एक निपुण गवैए के समान, सब को ठीक रखता है। बाहर उसके चित्त में क्रोध उत्पन्न करनेवाली चाहे कितनी ही बातें हुई हों, कितनी ही बातों से उसका जी दुखी हो, पर युवा पुरुष जब घर के भीतर आवे तब शांत और प्रसन्नमुख आवे। वह कठोर संयम करे, अपनी चेष्टा को वश में रखे, अपनी जबान में लगाम लगा दे। हा! क्रोध की लाल आँखों और आवेश के कठोर वचनों से कितने अनर्थ होते हैं। युवा पुरुषों को 'लगती हुई बात' कहने की बड़ी रुचि होती है। प्रायः वे व्यंग्यपूर्ण उत्तर और चुटीली फबतियाँ किसी बुरी नीयत से नहीं बल्कि अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता दिखाने के लिये मुँह से निकालते हैं। यह एक ऐसा दोष है जिससे उन्हें, जहाँ तक

हो सके, बचना चाहिए। बात की चोट बड़ी गहरी होती है। जब तुम्हारा लगती हुई चुटीली बात कहने को जी चाहे, तब तुम इस बात को सोच लिया करो कि ऐसा करने से थोड़ी देर के लिये तुम्हारा रंग तो बँध जायगा, पर बहुत दिनों के लिये बैर ठन जायगा। एक महात्मा का वचन है कि 'अप्रिय सत्य बोलने से मौन रहना अच्छा है'। बहुतेरे घरों की यह चाल होती है कि उसके प्राणी नए आदमियों के सामने भी एक दूसरे को जली-कटी सुनाया करते हैं। अँगरेजी भाषा का अलौकिक गद्य-लेखक कार्लाइल कहता है—"व्यंग्य वा ताना मेरे देखने में शैतान की भाषा है, इसी से बहुत दिनों से मैंने उसे छोड़ दिया है।" जान्सन का कथन है—"किसी मनुष्य को दूसरे को कटु वचन कहने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जिस प्रकार उसे ढकेल देने का।"

पर चेष्टा और चितवन से जो रुखाई प्रकट की जाती है, वह भी क्रोध से भरे हुए कटु वचनों से कम नहीं होती। हमें अपना मुँह ही नहीं बंद करना चाहिए, अपने मनोवेगों को भी दबाना चाहिए। हमें स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष और तुनुकमिजाजी को भी, कटु वचन और लाल आँखें जिनके बाहरी लक्षण हैं, दूर करना चाहिए। मिजाज ठीक रखना अपने आपको वश में रखने का ही नाम है, धीर प्रकृति, उदारहृदय और स्वच्छ चित्त का फल है। पास्कल कहता है—"मैं सब मनुष्यों के निकट सच्चा, ईमानदार और विश्वासपात्र होने का यत्न

करता हूँ। मेरा हृदय उनके प्रति कोमल रहता है जिनका हमारा परमात्मा ने घनिष्ठ संबंध कर दिया है।" यही आत्म-निरोध का सच्चा तत्त्व है। न्यायपरायणता और सचाई ही बुद्धिमान् पुरुष की धीर प्रकृति के अंग हैं। उनके साथ ही यदि हमारा हृदय भी उनके प्रति कोमल हो जिनका हमारा साथ परमात्मा ने कर दिया है, तो हमें परिवार के सच्चे सुख का अनुभव हो सकता है। हमें मानना और सहना चाहिए, एक दूसरे का ध्यान रखना चाहिए, एक दूसरे के संबंध में सचाई और ईमानदारी का व्यवहार करना चाहिए और चित्त का कोमल होना चाहिए। हमें अपने भावों और मनोवेगों का शासनकर्त्ता होना चाहिए। युधिष्ठिर को जय और कीर्ति का लाभ अपूर्व आत्मनिरोध के बल से ही हुआ। दुर्योधन का नाश उद्धत प्रकृति के कारण, आत्मशासन के अभाव के कारण, हुआ। पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि का नाता निबाहने के लिये हमें आत्मनिरोध को धारण किए रहना चाहिए, जिसके सामने सब कठिनाइयाँ हवा हो जाती हैं। यह एक ऐसा रासायनिक तत्त्व है जो परस्पर भिन्न प्रकृति के पदार्थों को भी मिलाकर एक करता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा है—"अपने आपको वश में रखने से ही पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त होता है। मनुष्य उद्वेगशील न हो, प्रत्येक वासना से प्रेरित होकर इधर-उधर न भटकने लगे, बहुत से भावों को शांतिपूर्वक तौलकर अपना एक भाव स्थिर करे, नैतिक शिक्षा

इसी बात का प्रयत्न करती है।" प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक स्काट में ये सब गुण थे, इसी से उसे परिवार का सच्चा सुख था। अपनी स्त्री, अपने लड़कों और अपने मित्रों के साथ उसका व्यवहार सदैव कोमल रहता था। बाहर से चाहे वह कितना ही उद्विग्न और झुँझलाया हुआ आता था, पर घर की चौखट लाँघते ही वह मृदुल भाव धारण कर लेता था, जैसा कि प्रायः लोग करते हैं। वह बाहर का गुस्सा अपने घर के प्राणियों पर आकर नहीं निकालता था। उनके सुख का वह सब से अधिक ध्यान रखता था। वह आदर्श भ्राता, आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श पिता था। उसके चरितलेखक ने लिखा है—"उसके घर में स्मृतिचिह्न के रूप में उसकी माता के पुराने ढंग के पिटारे, उसके हाथ की लिखी चिट्ठियाँ, जिनमें स्काट के उन भाई बहिनों के बाल रखे थे जो माता की मृत्यु के पहले ही मर चुके थे, उसके बाप की सुँघनीदानी तथा इसी प्रकार की और भी बहुत सी वस्तुएँ यत्नपूर्वक रखी थीं।" उसके जीवनचरित में इसी प्रकार की बहुत सी बातें मिलेंगी। उन सब से उस गूढ़ स्नेह का पता लगेगा जिसके कारण उसमें उतना आत्मसंवरण था तथा उस त्याग का परिचय मिलेगा जो परिवार के सुख, शांति और स्नेह को बढ़ाता है।

उत्तम व्यवहार की वह पूर्णता भी, जिसे शिष्टता कहते हैं, आत्मनिग्रह से कम आवश्यक नहीं है। इस विषय में भी स्काट आदर्शस्वरूप था। एक महाशय उसके विषय में लिखते

हैं—"लोगों के साथ व्यवहार करने में जो शिष्टता मैंने उसमें देखी है, वह किसी में नहीं देखी। उसका व्यवहार इतना सादा और स्वाभाविक होता था और उसके शील का लोगों पर इतना प्रभाव पड़ जाता था कि लोग अपने आपको भूल जाते थे और उसके इस गुण को लक्ष्य नहीं कर सकते थे।" शिष्टता पुरुषार्थ का चिह्न है। गरीब, अमीर, नौकर-चाकर, घर का प्राणी, कोई हो, सबका बराबर ध्यान रखना चाहिए; सब के साथ प्रसन्नता, स्नेह और कोमलता का व्यवहार करना चाहिए।

मैंने जिस शिष्ट व्यवहार का ऊपर वर्णन किया है, वह प्रचलित अदब कायदे से भिन्न है। बहुत से अदब कायदे-वालों में सच्ची और उच्च कोटि की शिष्टता उतनी भी नहीं होती जितनी एक ग्रामीण किसान में होती है। सच्ची शिष्टता उसमें समझनी चाहिए जो दूसरों का खयाल करके तब अपना खयाल करता है, जो अपने पड़ोसी को आगे करता है और आप पीछे रहता है, जो दूसरे को बोलते देखकर आप चुप होकर सुनता है, जो धैर्य्य ऐसे अलौकिक गुण को धारण करता है। शिष्टता का सारा सिद्धांत यह है कि हमें दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें। पूर्ण शिष्टता धार्मिक पुरुषों में देखी जाती है। उनमें चित्त की उदारता और आत्मशासन की शक्ति बहुत कुछ पाई जाती है। शिष्टता का एक अत्यंत

आवश्यक अंग है विनय वा नम्रता। अपने आपको बड़ा लगाना शिष्ट व्यवहार का बाधक है। किसी किसी घर में देखा जाता है कि चार छः महीने के समाज-संसर्ग से संसार की ऊपरी बातों का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करके पुत्र अपने को अपने माता पिता से, भाई अपने को अपनी बहिन से बढ़कर लगाने लगता है। थोड़े ही दिन समाज की गंदी हवा खाकर किसी किसी नवयुवक का मिजाज इतना बिगड़ जाता है कि वह अपनी बहिनों को अंधी भेड़ें और माता पिता को "पुराने खूसट" समझने लगता है। इसी से उसके व्यवहार में उग्रता आ जाती है और मान-सम्मान तथा शिष्टता का अभाव दिखाई देने लगता है। वह समझता है कि ऐसे असाधारण लोगों के साथ बहुत शिष्टता दिखाने की आवश्यकता ही क्या? पर पुरुषार्थ वा वीर व्रत यह है कि हम स्त्रियों के साथ स्नेह और आदर का व्यवहार करें और धर्म यह है कि हम अपने माता पिता का सम्मान करें। धर्म इस बात का आग्रह करता है कि हम उनकी सारी उचित आज्ञाओं का पूर्ण तत्परता के साथ पालन करें; जब उनका और हमारा मत न मिले, तब हम उनके अधिक अनुभव को मान लें; और यह समझ लें कि उन्होंने जो बात कही है, वह अधिक सोच विचार के साथ कही है। नम्रता माता पिता के प्रति हमारे स्नेह की भी सारभूत वस्तु है और शिष्टता की भी। हमारे यहाँ गोस्वामी तुलसीदासजी कैसे धर्म्मपरायण और निर्मल चरित्र

के महात्मा हो गए हैं। उन्होंने रामचरितमानस के आरंभ में अपनी नम्रता और विनय का कैसा सुंदर परिचय दिया है—

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावों।
मतिअनुरूप रामगुन गावों॥

एक ईसाई महात्मा का नम्रता के विषय में इस प्रकार का उपदेश है—"नम्र मनुष्य अपनी बुद्धि पर भरोसा नहीं करता, बल्कि अपने गुरु और मित्रों के निर्णय पर चलता है। वह हठपूर्वक अपनी ही इच्छा के अनुकूल नहीं चलता, बल्कि जिन बातों से अपने बड़ों का संबंध होता है, उन्हें उन्हीं के ऊपर छोड़ देता है। वह आज्ञापालन में चूँ-चकार नहीं करता। वह किसी आज्ञा के औचित्य की जिज्ञासा नहीं करता, उसे उचित ही समझता है। वह अपने आचरण, संकल्प और विचार से कभी संतुष्ट नहीं रहता। वह बातचीत संकोच के साथ करता है। जब उसे कोई अकारण वा किसी कारण से भला बुरा कहता है, तब वह उसका कड़ुआ और तीखा उत्तर नहीं देता।" नम्रता का यह गुण ऐसा है जिसकी ओर आजकल के नवयुवक कुछ ध्यान नहीं देते। इन चोखे नवयुवकों के निकट, जो भूमंडल के प्रत्येक विषय के आचार्य्य आप बनते हैं, जो अपनी सम्मति ब्रह्मवाक्य के समान अटल निश्चित करके देते हैं और जो पुरानी बातों और पुराने निश्चयों का बड़ी घृणा के साथ तिरस्कार करते हैं, नम्रता एक अत्यंत तुच्छ और भद्दा गुण है। वे अपने को इतना नहीं गिरा सकते

कि नम्रता धारण करें। ऐसे लोग एक परम धार्मिक महात्मा की इन बातों पर कितना हँसेंगे—"मैं चाहता हूँ कि तुम अपनी दृष्टि में अपने को अत्यंत दीन और तुच्छ—कपोत की तरह दीन और तुच्छ—समझो। जब अवसर मिले तब अपने को नम्र करने से न चूको। बोलने में तेजी न करो, जहाँ तक बने अपना उत्तर धीरे में, विनय और नम्रता के साथ दो। अपने संकोचपूर्ण मौन ही को अपना बोलना समझो।" यह एक झूठी धारणा फैली हुई है कि कड़ककर बोलना, खूब हाथ पैर झटकना और 'विधि निषेध' का भाव प्रकट करना पुरुषार्थ के चिह्न हैं और 'सांसारिक अनुभव' के बाहरी लक्षण हैं। महाराज रणजीतसिंह के समान अनुभवी और पराक्रमी कौन होगा? पर उनकी नम्रता के दृष्टांत प्रसिद्ध हैं। रहीम खानखाना जैसे विद्वान् थे, वैसे ही वीर भी थे, पर उनकी रचनाओं से कितनी सिधाई और नम्रता टपकती है। सच तो यों है कि पुरुषार्थ और पराक्रम के साथ यदि नम्रता भी हो तो 'सोने में सुगंध' समझना चाहिए। पराक्रमी पुरुष विनीत होते हैं; क्योंकि नम्रता और उदारता से उनके पराक्रम की शोभा होती है।

जिस प्रकार नम्रता शिष्टता का एक अंग है, उसी प्रकार उदारता भी। दोनों भलेमानुस के गुण हैं। पाठक यह न समझें कि उदारता से मेरा अभिप्राय खूब हाथ खोलकर खर्च करने से है। खुली मुट्ठीवालों का स्वभाव भी कभी कभी बड़ा ओछा होता है। उदारता उन्हीं लोगों में होती है

जिनके हृदय का संस्कार अच्छा होता है। ऐसी उदारतावाला मनुष्य कभी किसी की बुराई नहीं सोचता, दुर्बल और अत्याचार-पीड़ित प्राणियों की रक्षा करता है, किसी के विषय में झूठे अपवाद की ओर ध्यान नहीं देता, दूसरे के कार्यों और वचनों को अच्छे भाव में लेता है, दूसरों पर खोटे संदेह नहीं करता। भद्र पुरुषों का मिलना उतना सहज नहीं है जितना लोग समझते हैं; क्योंकि उदारता का गुण इस संसार में दुर्लभ है। भद्र पुरुष होने के लिये मनुष्य को क्या क्या होना चाहिए? भद्र पुरुष होने के लिये मनुष्य को ईमानदार और खरा होना चाहिए, कोमल होना चाहिए, उदार होना चाहिए, साहसी होना चाहिए, बुद्धिमान् होना चाहिए, तथा इन सब गुणों को धारण करते हुए उनका सुंदर उपयोग करना चाहिए।

मैं चाहता हूँ कि वह शिष्टता, जिसे मैंने नम्रता और उदारता के आधार पर स्थित और धर्म्मबल का एक अंग बतलाया है, घर में भी बर्त्ती जाय। मैं चाहता हूँ कि उसका प्रकाश परिवार में भी फैले और सब प्राणियों को सुखी और प्रफुल्लित करे। बाहर संसार में बड़े बड़े कार्य्य करने को उद्यत होने के पहले मनुष्य अपना पराक्रम और अपनी धीरता घर में क्यों न दिखा ले? बहुत से नवयुवक केवल सामाजिक शिष्टता धारण किए रहते हैं। वे जब बाहरी लोगों से मिलते जुलते हैं, तब बड़े शील-संकोच और नम्रता

का व्यवहार करते हैं; पर ज्योंही वे अपने घर की चौखट लाँघते हैं, वे अपना रूप बदल देते हैं। तब वही मुँह जो कुछ घड़ी पहले सँभलकर और धीमे स्वर से बोलता था, कर्कश और ऊँचे स्वर से बोलने लगता है। वही भाव जो कुछ क्षण पहले विनीत और नम्र था, कठोर और उग्र हो जाता है। प्राय: यह समझा जाता है कि अपने घर के बीच शिष्टाचार बर्त्तने की आवश्यकता नहीं; अपने कुटुंबियों के सामने बहुत शिष्ट और परिष्कृत व्यवहार व्यर्थ का एक आडंबर है और दूसरों के माता-पिता के प्रति जैसा आदर सम्मान दिखाया जाता है, वैसा अपने माता-पिता के सामने दिखाना मूर्खता है। इसका मतलब यही हुआ कि अपने माता-पिता, भाई आदि के साथ वैसा व्यवहार करना आवश्यक नहीं जैसा भलेमानुसों के साथ किया जाता है। इससे बढ़कर भूल और क्या हो सकती है ? शिष्टता के व्यवहार से परिवार में शांति और मेल ही नहीं रहता, बल्कि हम उदार आचरण करने में अभ्यस्त होते हैं तथा सोच विचारकर और धैर्य के साथ कार्य करना सीखते हैं। यह उस नीति-शिक्षा की दूसरी सीढ़ी है जिसके विषय में हम ऊपर कह आए हैं। अस्तु, यह एक बात निश्चित हुई कि आत्मदमन और शिष्टता के द्वारा परिवार के सुख की वृद्धि हो सकती है।

एक तीसरा गुण जो इनमें और जोड़ा जा सकता है, वह प्रफुल्लता है। 'घरेलू शिक्षा' नाम की अपनी पुस्तक में

ऐजक टेलर नामक एक अँगरेज लेखक ने इस बात पर जोर दिया है कि परिवार की सुख-वृद्धि के लिये माता-पिता में कुछ प्रफुल्लता और क्रीड़ा कौतुक भी चाहिए। वह कहता है— जिस प्रकार माता अपने बच्चों के प्रेम को उनके साथ विनोद और लाड़ प्यार करके चमकाती और सुरक्षित रखती है, उसी प्रकार पिता भी मर्य्यादापूर्वक थोड़े बहुत खेल-कूद द्वारा उनके उत्साह को बढ़ाकर अपने शासन को प्रिय बना सकता है। वह पिता जिसमें यह गुण हो, अवकाश वा भोजन के समय अथवा बगीचे में टहलते हुए अपने लड़कों के साथ, भद्देपन को बचाता हुआ, विनोद वा खिलवाड़ के ढंग की बातचीत छेड़े और चुटकुलों, कहानियों आदि से उनका मन बहलावें। पर बहुत कम माता-पिता ऐसे होते हैं जो अपने परिवार के मनोरंजन के लिये ऐसी मनोहर युक्ति काम में लाना जानते हैं; और बहुत कम परिवार ऐसे हैं जो इसके आनंद का अनुभव कर सकते हैं। पर परिवार में प्रफुल्लता उत्पन्न करने के लिये यह युक्ति बड़े काम की है और इससे परिवार का सुख बढ़ सकता है। हर्बर्ट कहता है— "मीठे वचन बोलने में कुछ लगता नहीं, पर उनका मोल बड़ा होता है।" प्रफुल्लित वचन ही अच्छे वचन हैं, क्योंकि उनसे आशा उत्तेजित होती और धैर्य पुष्ट होता है। पर यह नहीं कि माता-पिता ही अच्छे और मीठे वचन बोलें, पुत्र को भी मीठे वचन बोलकर स्नेह और कर्त्तव्य की दृष्टि से अपने

माता-पिता को उनकी अवस्था की उतरानी में सहारा देना चाहिए। क्या वह अपने अवकाश का थोड़ा बहुत समय अपने परिवार की प्रसन्नता के लिये नहीं लगा सकता? मान लीजिए कि घर में कोई बीमार है या कोई विपत्ति आई है। ऐसी दशा में वह धीरचित्त, प्रसन्नमुख, आशाभरी दृष्टि और उत्साहपूर्ण मुसकराहट के साथ घर में आवे। फिर देखिए कि निर्बल को कितना सहारा हो जाता है, मरा हुआ मन कैसा हरा हो जाता है, और बुड्ढों में कितनी शक्ति आ जाती है! यदि परिवार में किसी प्रकार की विघ्न बाधा नहीं है, तो भी उसकी प्रफुल्लता से परिवार के आनंद की वृद्धि होगी; यदि हँसी में वह योग दे देगा, तो हँसी और जी खोलकर होगी; यदि आमोद प्रमोद में वह सहायता दे देगा तो वह और भी धूमधाम से होगा। ऐसा न करो कि अपने निज के आमोद प्रमोद वा लिखाई पढ़ाई के आगे तुम अपने परिवार के आमोद प्रमोद में कभी सम्मिलित ही न हो। जब तक तुम घर से बहुत दूर नहीं हो, तब तक अपने घर को घर समझो और ऐसा करो कि उसके निर्दोष आमोद प्रमोद में तुम्हारी प्रफुल्लता का भी कुछ भाग रहे। यूरोप के प्रसिद्ध धर्मप्रवर्त्तक लूथर ने कहा है—"विनोद और साहस, अर्थात् विचारपूर्ण विनोद, मर्य्यादा-पूर्ण साहस, बुड्ढे और जवान सब के लिये उदासी की अच्छी दवा है।" यदि कोई युवा पुरुष यह जानना चाहे

कि क्या उसके आमोद प्रमोद निर्दोष और आशय उदार हैं, क्या उसका हृदय वैसा ही पवित्र है जैसा लड़कपन के भोलेपन में था, तो उसे यह सोचकर देखना चाहिए कि 'क्या उसका प्रेम घर से पहले ही का सा है और क्या उसका मन घर के कामों में, उसके आमोद प्रमोद में, उसी प्रफुल्लता के साथ लगता है जिस प्रफुल्लता के साथ पहले लगता था ?' जब किसी नवयुवक का चित्त घर से ऊब जाय, जब घर के व्यवहार में उसे आनंद न मिलने लगे, तब उसे निश्चय समझ लेना चाहिए कि उसमें बुराई आ गई है और उसका चित्त चंचल हो गया है। फिर तो उसे शांति और पवित्रता के लिये तरसना होगा जो उसे फिर नहीं मिलने की।

जो लोग परिवार के सुख की वृद्धि किया चाहते हैं, उन्हें सहानुभूति भी रखनी चाहिए। एक धार्मिक कवि की माता के विषय में कहा जाता है कि वह अपने परिवार का शासन मृदुलता से करती थी और लड़कों के मनबहलाव का इतना प्रबंध रखती थी कि वे अपना बहुत सा समय प्रसन्नता-पूर्वक उसी के साथ बिताते थे। वे उसकी सहानुभूति देखकर उसकी ओर आकर्षित रहते थे। यही सहानुभूति का गुण है जिसके कारण बच्चे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों से अधिक हिले मिले रहते हैं। यह सहानुभूति उनकी प्रत्येक भावना, रुचि और आकांक्षा के प्रति होती है। यही सहानुभूति का मंत्रबल है जिससे बच्चे मोहित रहते हैं। यदि युवा पुरुष

भी अपने पारिवारिक संबंध में इस सहानुभूति का संचार करें, जैसा कि बड़े और अच्छे लोग करते थे, तो वे थोड़े ही दिनों में देखेंगे कि उनके नित्य प्रति के जीवन पर कैसी सुहावनी रंगत चढ़ गई है। आधे क्या, आधे से अधिक मनमोटाव, जिनके कारण परिवार की शांति भंग होती है, आधे से अधिक संदेह, जिनके कारण परस्पर का विश्वास उठ जाता है, सहानुभूति के अभाव से उत्पन्न होते हैं। कुछ गर्व और कुछ संकोच में पड़कर पुत्र पिता से किनारा खींचे रहता है, भाई बहिन से तटस्थ रहता है। इस प्रकार अंतर बढ़ता जाता है और पारिवारिक स्नेहरूपी अमूल्य धन का नाश हो जाता है। पर एक परिवार के प्राणियों का हानि-लाभ एक दूसरे से पृथक् नहीं होना चाहिए। उनके आमोद प्रमोद, उनकी आशाएँ, उनके हौसले, जहाँ तक हो सके, सम्मिलित रूप में हों। उन्हें एक दूसरे के हृदय के आंतरिक सौरभ का भागी होना चाहिए।

सहानुभूति की इस शक्ति के विषय में, जिसके प्रभाव से अंतःकरण में और घर में स्नेह की ज्योति जगती है, जरमी टेलर ने क्या अच्छा कहा है—"प्रत्येक मनुष्य का आनंद उस समय दूना हो जाता है जब उस आनंद का भागी कोई और मिल जाता है। 'मेरा मित्र मेरे दुःख को तो बँटाकर आधा कर देता है, पर सुख को दूना कर देता है; दो निकास एक नदी की धारा को कम कर देते हैं, पर दो बत्तियाँ एक दीपक की ज्योति को बढ़ा देती हैं। मेरी आँखों के आँसू करुणा के सहारे मेरे मित्र की

आँखों की राह से भी निकलकर जल्दी सूख जाते हैं; पर मेरे आनंद की ज्योति के साथ मेरे मित्र के आनंद की ज्योति मिल-कर प्रकाश को बढ़ा देती है, क्योंकि दोनों ज्योतियाँ मिलकर चमकती हैं।'' अपने परिवार के साथ व्यवहार करने में सहानुभूति की शक्ति का उपयोग करके युवा पुरुष अपने आनंद को दूना कर सकते हैं और अपनी चिंताओं को कम कर सकते हैं। यदि वे अपने छोटे भाइयों की पढ़ाई लिखाई, बड़े भाइयों के कामकाज और माता पिता के उद्योग-यत्न की ओर भी ध्यान दें और मन लगावें तो उनके लिये आनंद का एक नया मार्ग खुल जाय, और पारिवारिक जीवन में एक नया रंग ढंग दिखाई दे। ऐसा करने से उनका हृदय भी परिष्कृत होगा और उनकी बुद्धि भी बढ़ेगी। पढ़ाई लिखाई वा काम काज से जो अवकाश मिले, उसमें इस प्रकार की नई तत्परता पुष्टई का काम देगी जिससे अपने नियमित कार्य के संपादन के लिये शरीर में अधिक बल और फुर्ती आवेगी। करुणा, सहा-नुभूति आदि हृदय के उत्तम गुणों के निरंतर अभ्यास से स्नेह शिथिल और धीमा नहीं पड़ने पावेगा, और वह कठोर स्वार्थपरता नहीं आने पावेगी जिससे सैकड़ों युवा पुरुषों का जीवन कड़ुआ हो जाता है।

घर में भी युवा पुरुषों को बातचीत करने का ढंग सीखना चाहिए। यह एक ऐसा गुण है जिसे कोई सिखाता भी नहीं और जिसे बहुत लोग अर्जित भी नहीं करते। इस गुण के बिना

लोग न्योते और उत्सव आदि में जाते हैं, रेल पर यात्रा करते हैं, पर एक दूसरे का मुँह ताकते रहते हैं। संयोगवश कोई चतुर मनुष्य बोल उठा तो बोल उठा और कोई ऐसी चर्चा छेड़ सका जिसमें सब का मन लगे और बातचीत कुछ देर तक उत्साह और धूम के साथ चले। पर ऐसे लोग कम मिलते हैं और इस कमी का फल यह होता है कि लोग बहुधा उत्सव आदि में जाते हैं, पर न तो कोई नई बात जान सकते हैं और न किसी पुरानी बात पर तर्क-वितर्क करने का अवसर पा सकते हैं। पर जो मनुष्य विचारपूर्वक—नोक झोंक के साथ न सही—बातचीत करना जानता है, वह सर्वत्र सर्वप्रिय रहता है। बातचीत करने का गुण प्राप्त करना कुछ कठिन नहीं है। जिस प्रकार अभ्यास के बिना तुम अच्छा लिख नहीं सकते, उसी प्रकार अभ्यास के बिना अच्छे ढंग से बातचीत भी नहीं कर सकते। अतः उसका अभ्यास घर ही में परिवार के बीच से आरंभ कर दो। जब जाड़े के दिनों में घर के सब किवाड़ बंद करके एक स्थान पर आग जलाकर परिवार के छोटे बड़े सब कुछ काल के लिये इकट्ठे होकर बैठते हैं, तब तुम भी उनके बीच बैठकर मनोरंजन, बुद्धिमानी और विनोद से भरी बातचीत चलाने का प्रयत्न करो। कवि-शिरोमणि शेक्सपियर ने अच्छी बातचीत का लक्षण इस प्रकार कहा है—"बातचीत प्रिय हो पर ओछी न हो, चुहल की हो पर बनावट लिए न हो, स्वच्छंद हो पर अश्लील न हो,

विद्वत्तापूर्ण हो पर दंभयुक्त न हो, अनोखी हो पर असत्य न हो।" सर विलियम टेंपल ने वार्तालाप के जो अंग निर्धारित किए हैं, वे ये हैं—"पहली बात तो सचाई है, दूसरी बात समझदारी, तीसरी चोज, और चौथी चतुराई है। उक्ति और चतुराई के साथ बातचीत करना चाहे तुम्हें न आवे; पर तुम शील-संकोच और समझदारी के साथ बातचीत कर सकते हो। जिसमें बातचीत की चतुराई स्वाभाविक नहीं है, उसका बनावटी चतुराई दिखाना बहुत बुरा लगता है। बातचीत केवल अपने को कुछ प्रकट करने के लिये नहीं करनी चाहिए। बातचीत का अर्थ यह है कि अपनी अपनी ओर से सब लोग कुछ कहें। अच्छा बातचीत करनेवाला जिस तरह अपनी कहना जानता है, उसी तरह दूसरों की सुनना भी जानता है; जिस तरह आप बातचीत में लगना जानता है, उसी तरह दूसरों को भी बातचीत में लगाना जानता है; जिस तरह आप बोलना जानता है, उसी तरह दूसरों को भी बुलाना जानता है।" एक अनुभवी कवि का वचन है—"दूसरों की सुनना भी एक बड़ा भारी काम है। इसी में बातचीत का गुण देखा जाता है और इसी से नम्रता और बुद्धिमानी आती है।"

आजकल जब कि संवादपत्रों की अधिकता हो रही है, तुम यह बहाना नहीं कर सकते कि हमें बातचीत करने को कोई विषय ही नहीं मिलता। किसी ग्रंथकार की नव-प्रकाशित पुस्तक, किसी राजनीतिज्ञ का व्याख्यान, समाज-संशोधन का

कोई उद्योग, विज्ञान का कोई आविष्कार, देश की उन्नति का उपाय—ये सब ऐसे प्रसंग हैं जो अवकाश के समय के लिये बहुत हैं और जिन पर तर्क वितर्क करने से तुम्हें और तुम्हारे परिवार के लोगों को भी लाभ पहुँच सकता है।

कई बड़े लोगों का कथन है कि सौ में से निन्नानबे बातों की जानकारी हमें बातचीत से प्राप्त हुई। अकबर, शिवाजी, रणजीतसिंह आदि कई बड़े बड़े राजा और बादशाह कुछ पढ़े लिखे न थे, पर अपने समय के बड़े बड़े धुरंधर विद्वानों और बुद्धिमानों के सत्संग से उनकी जानकारी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। बेकन (Lord Bacon) कहता है—"सत्संग वा बातचीत से मनुष्य उद्यत बुद्धि का होता है; क्योंकि उसके लिये मनुष्य को अपनी जानकारी इस प्रकार उपस्थित रखनी पड़ती है जिसमें जब अवसर पड़े, तब वह उसे काम में ला सके।" बेकन ने बातचीत के लिये बहुत से विषय बतलाए हैं जो जानकारी के अधीन हैं। वह कहता है—"बातचीत का अच्छा ढंग यह है कि प्राप्त प्रसंग के साथ कुछ तर्क भी मिला रहे, दृष्टांतों और कथाओं के साथ युक्ति भी रहे, प्रश्नों के साथ मत भी प्रकाशित किया जाय और हँसी दिल्लगी के साथ कुछ काम की बात भी रहे; क्योंकि एक ही बात को लेकर बहुत बढ़ाना, जिससे लोगों का जी ऊबे, बुरा लगता है।" आत्मसंस्कार के लिये बातचीत किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह भी बेकन ने बतलाया है। जैसे—"वह जो पूछता बहुत है, बहुत

जानेगा और बहुत संतुष्ट होगा, विशेष कर जब वह अपने प्रश्नों को इस ढंग से पूछता है कि जिनसे पूछता है, उनका गुण उत्तेजित होता है। यह उन्हें बोलने का आनंद उठाने का अवसर देता है और आप ज्ञान संचित करता जाता है।"
बातचीत से एक लाभ और होता है। इससे ज्ञान बढ़ाने की उत्तेजना मिलती है। जब कि तुम चाहते हो कि दूसरे लोग बोलकर तुम्हें आनंदित करें और तुम्हारी जानकारी बढ़ावें तब तुम्हें भी यह ध्यान अवश्य होगा कि तुम भी बोलकर उन्हें आनंदित करो और उनकी जानकारी बढ़ाओ। इसके लिये तुम्हें सामग्री एकत्र करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। बातचीत एक ऐसी बाजी है जिसमें सब को कुछ न कुछ लगाना पड़ता है क्योंकि उसमें सब का स्वार्थ रहता है।

घर ही एक ऐसा स्थान है जहाँ तुम सौंदर्यभावना का विकास कर सकते हो, कला कौशल की रुचि संपादित कर सकते हो। स्कूल में तुमने थोड़ी बहुत ड्राइंग वा चित्रकारी सीखी होगी और तुम वस्तुओं के भद्दे ढाँचे बनाना जानते होगे, अथवा संगीत ही में कुछ स्वर ग्राम आदि तुमने सीखा होगा। अपनी उस अल्प शिक्षा को तुम घर में अभ्यास द्वारा बढ़ा सकते हो। संभव है कि तुम्हारे घर का कोई प्राणी तुम्हें उसमें सहायता दे सके, नहीं तो आप अभ्यास करो। अभ्यास ही से मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है। तुम्हें इस अभ्यास में सहायता देने के लिये आजकल थोड़े ही खर्च में बहुत से

साधन उपलब्ध हो सकते हैं। मैं इस बात को आग्रह के साथ कहता हूँ कि प्रत्येक युवा पुरुष को कोई न कोई कला अवश्य सीखनी चाहिए। इससे केवल अलौकिक और पवित्र आनंद ही नहीं प्राप्त होगा, बल्कि भारी कामों से अवकाश पाने पर पूरा विश्राम मिलेगा, मन बहलेगा। सच्चा विश्राम हाथ पर हाथ रखकर बैठने में नहीं है, बल्कि कार्य्यों को बदलते रहने में है। वैज्ञानिक छानबीन, नित्य के व्यवसाय, अथवा विदेशी भाषा के अध्ययन में लगे रहने के उपरांत चित्त को स्वस्थ और सशक्त करने का मेरी समझ में इससे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है कि वीणा वा हारमोनियम लेकर बैठ जाय अथवा किसी बड़े चित्रकार के चित्र को सामने रखकर उसकी छाया उतारने लगे। यदि कल्पना और मनोवेगों के पोषण और परिष्कार की ओर ध्यान न दिया जायगा तो बुद्धि अवश्य अपूर्ण और अपरिष्कृत रहेगी। कला के अध्ययन से अंतःकरण की सारी शक्तियाँ खुल पड़ती हैं। क्या हम बड़े बड़े संगीताचार्यों की उन शिक्षाओं की ओर कान न दें जो उनके मधुर अलाप और जटिल स्वरों से मिलती हैं? क्या हम उन सुंदर, उदार और महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को आँख उठाकर न देखें जो बड़े बड़े चित्रकारों के भावपूर्ण पटों पर अंकित रहती हैं? कला की रुचि हमारे गूढ़ से गूढ़ मनोवेगों में—हमारी प्रकृति के पवित्र और सुंदर अंशों में—ऐसी प्रेरणा उत्पन्न करती है और विवेक को दृढ़ करती हुई कल्पना को

इतना संतुष्ट करती है तथा चिंतन-शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित और आलोचना शक्ति को इस प्रकार तीव्र करती है कि उसे पुष्ट और परिष्कृत करना हमारा परम कर्त्तव्य है। हर्बर्ट स्पेंसर ने मनुष्य-जीवन को पाँच प्रकार के कामों में इस प्रकार बाँटा है—"पहले वे कर्म्म जिनसे आत्मरक्षा होती है; दूसरे वे कर्म्म जो जीवननिर्वाह की सामग्री संपादित करके आत्मरक्षा के निमित्त किए जाते हैं; तीसरे वे कर्म्म जो संतान के पालन और शिक्षा के निमित्त किए जाते हैं; चौथे वे कर्म्म जो सामाजिक और राजनैतिक संबंधों के निर्वाह के हेतु किए जाते हैं; और पाँचवें वे फुटकर कर्म्म जो अवकाश के अवसरों पर किए जाते हैं और जिनसे रुचि और भावनाओं की तुष्टि होती है।" इस प्रकार कला का संपादन वा अध्ययन पाँचवीं कोटि में आता है। पर यद्यपि उसका स्थान गौण रक्खा गया है, तथापि मैं उसके महत्त्व पर बहुत जोर देता हूँ। मनुष्य रोटी ही पर नहीं रह सकता। उसकी कल्पना उत्तेजित होनी चाहिए, उसके भाव जाग्रत होने चाहिएँ। सौंदर्य्य का भाव पवित्रता और सत्यता के भाव से अलग नहीं है। यदि कलावान् के चरित्र अच्छे नहीं हैं, तो उसकी कला को अवश्य क्षति पहुँचेगी। उत्कृष्ट कला सदा सत्य और पवित्रता लिए होगी। अतः नैतिक और मानसिक शिक्षा के लिये, तथा अधिक अध्ययन वा काम काज की चिंता से थके हुए मस्तिष्क के विश्राम के लिये कला का संपादन अत्यंत आवश्यक है।

यदि तुम्हें संगीत न आवे तो चित्रकारी ही लो। यदि वह भी अरुचिकर या असंभव हो तो मिट्टी के खिलौने बनाओ, फूल पत्ते सजाओ—सारांश यह कि ऐसी बातें करो जिनसे सौंदर्य्य का प्रेम तुम्हारे चित्त में बना रहे। मेरी दृष्टि में तो संगीत से बढ़कर आह्लाददायिनी और आशय को उच्च करनेवाली दूसरी कला नहीं है। इससे तन और मन दोनों को विश्राम मिलता है। ज्यों ज्यों बाजे पर उँगलियाँ फिरती हैं, त्यों त्यों हृदय भी आनंद से उछलता है। संगीत उत्साह बढ़ाता है, विचारों को ठिकाने करता है, श्रवणों को सुख देता है, चित्त को विश्राम देता है। वह हमें आगे आनेवाले कामों के करने के उपयुक्त ही नहीं करता, बल्कि प्राप्त काल में भी हमारे हृदय को पवित्र और उत्तम भावों से पूर्ण करता है। अतः जितना ही संगीत का स्वर मेरे कानों में मधुर होता आता है, उतना ही सत्य का प्रवाह मेरे हृदय में उमड़ता आता है। बड़े बड़े विद्वानों, वीरों और नीतिज्ञों को संगीत से अपार आनंद मिलता था। इसी संगीत के आनंद से मुग्ध होने के लिये अकबर तानसेन के पीछे पीछे स्वामी हरिदास की कुटी पर गया। सूरदास के भगवत्प्रेम का प्रवाह संगीत के रूप में बहा। अँगरेज कवि मिल्टन सांसारिक झंझटों और लोगों के मिथ्या अपवादों से खिन्न होकर अपने श्रांत चित्त को आरगन बाजे से बहलाता था। उसने औरों को यही करने का उपदेश दिया है। वह कहता है—"विश्राम

का समय यदि श्रांत चित्त को संगीत के मधुर अलाप द्वारा स्थिर और शांत करने में लगाया जाय, तो बहुत लाभ और आनंद प्राप्त हो सकता है।...बाजे के बीच बीच में जो गीत कानों में पड़ते हैं, उनमें स्वभाव और चेष्टा को कोमल करने की बड़ी शक्ति होती है।" संगीत का कुछ अभ्यास अवश्य करना चाहिए। संसार के बहुत से अच्छे कवि और ग्रंथकार संगीत से पूरा आनंद उठाते थे।

लोगों में एक सिद्धांत प्रचलित हो गया है जिससे साधारण शिक्षा और संस्कार को बड़ी हानि पहुँचती है। वह सिद्धांत यह है कि एक से अधिक बातों में प्रवीणता प्राप्त करना असंभव है। बहुत से दुनियादार बाप अपने बेटों से कहा करते हैं—"राग रंग से दूर रहो, कोई कला आदि न सीखो, अपने काम को छोड़ और किसी काम में प्रवीण होने का यत्न न करो।" इस प्रकार उनके स्वभाव को संकीर्ण और लोभी बनाकर वे उन्हें उस आनंद और उन्नति से वंचित करते हैं जो केवल एक कार्य में निपुण होने से नहीं प्राप्त हो सकती। इसी से मैं कहता हूँ कि घर पर के मनबहलाव के लिये तुम कोई न कोई कला अवश्य सीखो।

दूसरा प्रकरण

सांसारिक जीवन

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकलकर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती तो उसकी जान पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल मेल हो जाता है। यही हेल मेल बढ़ते बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है; क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरंभ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक रहती है। अपने मनोवेगों की शक्ति और अपनी प्रकृति की कोमलता का पता हमों को नहीं रहता। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्त्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे, उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिये बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं; क्योंकि हमें

उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिये कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः बहुत कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता; पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण दोष को कितना परख-कर लेते हैं, पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसंधान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही अच्छी मानकर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बात-चीत का ढब, थोड़ी चतुराई वा साहस—ये ही दो चार बातें किसी में देखकर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—"विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिए कि खजाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन का एक औषध है।

हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे, तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे; सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है, अच्छी से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक युवा पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बंधन होते हैं, उनमें न तो उतनी उमंग रहती है और न उतनी खिन्नता। बालमैत्री में जो मग्न करनेवाला आनंद होता है, जो हृदय को बेधनेवाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहाँ ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है; कैसा अपार विश्वास होता है! हृदय के कैसे कैसे उद्गार निकलते हैं! वर्त्तमान कैसा आनंदमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के संबंध में कैसी लुभानेवाली कल्पनाएँ मन में रहती हैं! कैसा बिगाड़ होता है और कैसी आर्द्रता के साथ मेल होता है! कैसी क्षोभ से भरी बातें होती हैं और कैसी आवेगपूर्ण लिखा पढ़ी होती है! कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना

मनाना होता है ! 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल पुथल का भाव भरा हुआ है ! किंतु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शांत और गंभीर होती है, उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन की झंझटों में चलता नहीं। सुंदर प्रतिभा, मनभावनी चाल और स्वच्छंद प्रकृति ये ही दो चार बातें देखकर मित्रता की जाती है; पर जीवन-संग्राम में साथ देनेवाले मित्रों में इनसे कुछ अधिक बातें चाहिएँ। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें, जिससे अपने छोटे मोटे काम तो हम निकालते जायँ, पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथप्रदर्शक के समान होना चाहिए जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के समान होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों

वा एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक वा वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शांत प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हममें नहीं है, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिंताशील मनुष्य प्रफुल्लचित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षावाला चंद्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिये चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिये बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"उच्च और महाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्त्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़-चित्त और सत्य संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो।

हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा। मित्रता एक नई शक्ति की योजना है। बर्क ने कहा है कि आचरण-दृष्टांत ही मनुष्य जाति की पाठशाला है; जो कुछ वह उससे सीख सकता है, वह और किसी से नहीं।

संसार के अनेक महान् पुरुष मित्रों की बदौलत बड़े बड़े कार्य्य करने में समर्थ हुए हैं। मित्रों ने उनके हृदय के उच्च भावों को सहारा दिया है। मित्रों ही के दृष्टांतों को देख देख-कर उन्होंने अपने हृदय को दृढ़ किया है। अहा! मित्रों ने कितने मनुष्यों के जीवन को साधु और श्रेष्ठ बनाया है, उन्हें मूर्खता और कुमार्ग के गड्ढों से निकालकर सात्विकता के पवित्र शिखर पर पहुँचाया है! मित्र उन्हें सुंदर मंत्रणा और सहारा देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं, जिनके सुख और सौभाग्य की चिंता वे निरंतर करते रहते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो विवेक को जाग्रत करना और कर्त्तव्य-बुद्धि को उत्तेजित करना जानते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो टूटे जी को जोड़ना और लड़खड़ाते पाँवों को ठहराना जानते हैं। बहुतेरे मित्र हैं जो ऐसे दृढ़ आशय और उद्देश्य की स्थापना करते हैं जिनसे कर्मक्षेत्र में आप भी श्रेष्ठ बनते हैं और दूसरों

को भी श्रेष्ठ बनाते हैं। मित्रता जीवन और मरण के मार्ग में सहारे के लिये है। यह सैर सपाटे और अच्छे दिनों के लिये भी है तथा संकट और विपत्ति के बुरे दिनों के लिये भी है। यह हँसी दिल्लगी के गुलछर्रों में भी साथ देती है और धर्म के मार्ग में भी। मित्रों को एक दूसरे के जीवन के कर्त्तव्यों को उन्नत करके उन्हें साहस, बुद्धि और एकता द्वारा चमकाना चाहिए। हमें अपने मित्र से कहना चाहिए—"मित्र! अपना हाथ बढ़ाओ। यह जीवन और मरण में हमारा सहारा होगा। तुम्हारे द्वारा मेरी भलाई होगी। पर यह नहीं कि सारा ऋण मेरे ही ऊपर रहे, तुम्हारा भी उपकार होगा, जो कुछ तुम करोगे उससे तुम्हारा भी भला होगा। सत्यशील, न्यायी और पराक्रमी बने रहो, क्योंकि यदि तुम चूकोगे तो मैं भी चूकूँगा। जहाँ जहाँ तुम जाओगे, मैं भी जाऊँगा। तुम्हारी बढ़ती होगी तो मेरी भी बढ़ती होगी। जीवन के संग्राम में वीरता के साथ लड़ो, क्योंकि तुम्हारी ढाल मैं लिए हूँ।"

जो बात ऊपर मित्रों के संबंध में कही गई है, वही जान-पहचानवालों के संबंध में भी ठीक है। जो मनुष्य स्वसंस्कार में लगा हो, उसे अपने मिलने-जुलनेवालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारी विवेचना की गति मंद हो वा भले बुरे का

विवेक खोया हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या वह भविष्य के लिये आयोजन का स्थान नहीं है? क्या वह तुम्हारे हाथ में सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा? सोचो तो कि दो, चार, दस जितने गुण तुम्हें दिए गए हैं, उन्हें तुम्हें देनेवाले को पचास गुने सौगुने करके लौटाना चाहिए, अथवा ज्यों के त्यों बिना ब्याज वा वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिसमें तुम गा बजाकर और हँसी ठट्ठा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्त्व के विषय में मैंने कहा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गंभीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट में दिन काटना वाजिदअली शाह की भाँति भोग विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँधकर चलना औरंगजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय न और सुखमय बतलाना चाहता हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्त्तव्यों के पालन के लिये दिया गया है, जो हमें परलोक के लिये कुछ कमाई करने के लिये दिया गया है। हमारे सामने ऐसे बहुत से लोगों के दृष्टांत हैं जिनके विचार भी महान् थे, कर्म भी महान् थे। जैसे कि महात्मा डिमास्थिनीज ने एथेंसवासियों से कहा था, उसी प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिए कि

"यदि हमें अपने महान् पूर्व पुरुषों की भाँति कर्म करने का अवसर न मिले, तो हमें कम से कम अपने विचार उनकी भाँति रखने चाहिएँ और उनकी आत्मा के महत्त्व का अनुकरण करना चाहिए।" अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी संगत होगी, वैसा हमें समझेगी ही; पर हमें अपने कामों में भी संगत ही के अनुसार सहायता वा बाधा पहुँचेगी। उसका चित्त अत्यंत दृढ़ समझना चाहिए जिसकी चित्तवृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पड़े जिनका बराबर साथ रहता है। पर अच्छी तरह समझ रखो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान न पड़े, पर उनका प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ता रहेगा और उसी के अनुसार तुम उन्नत वा अवनत होगे, उत्साहित वा हतोत्साह होगे। एक विद्वान् से पूछा गया—"जीवन में किस शिक्षा की सब से अधिक आवश्यकता है?" उसने उत्तर दिया—"व्यर्थ की बातों को जानकर भी अनजान होना।" यदि हम जान पहचान करने में बुद्धिमानी से काम न लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महाकृति बेकन कहता है—"समूह का नाम संगत नहीं है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् हैं और उनकी बातचीत झाँझ की झनकार है।" पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिए। जान

पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनंदमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है; इसमें खोने के लिये समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिये कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढारस बँधा सकते हैं, न हमारे आनंद में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्त्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने —— और जड़ मूर्त्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर देखने जायँगे, नाच-रंग में जायँगे, सैर-सपाटे में जायँगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन रात बनाव सिंगार में रहा करते हैं, कुलटा स्त्रियों के फोटो मोल लिया करते हैं,

महफिलों में 'ओ हो हो' 'वाह' 'वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनंद से कोसों दूर हैं। उनके लिये न तो संसार में सुंदर और मनोहर उक्ति-वाले कवि हुए हैं और न सुंदर आचरणवाले महात्मा हुए हैं। उनके लिये न तो बड़े बड़े वीर अद्भुत कर्म्म कर गए हैं और न बड़े बड़े ग्रंथकार ऐसे विचार छोड़ गए हैं जिनसे मनुष्य-जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिये फूल-पत्तियों में कोई सौंदर्य्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनंत सागर-तरंगों में गंभीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनंद नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इंद्रिय-विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन दिन अंधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी कभी राज्य का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके

इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिये गया और उसने एक हँस-मुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।" पिता ने कहा—"हाँ! ठीक है, वह दरवाज़े पर मुझे मिला था।"

कुसंग का ज्वर सब से भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देनेवाली बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इँगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दर-बारियों में जगह नहीं मिली। इस पर जिंदगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगों की संगत में पड़ता जो उसकी आध्या-त्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है; क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिएँ, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे

उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बूरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्राय: सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी वा फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतना जल्दी कोई गंभीर वा अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे बार बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अत: तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा; अथवा तुम्हारे चरित्रबल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकनेवाले आगे चलकर आप सुधर जायँगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा

विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें भले बुरे की पहचान न रह जायगी। अंत में होते होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूँ। नहीं, कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्मसंस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिये आते हैं, उनका जी बहुत दिनों तक, संगी साथी न रहने से, बहुत घबराता है और कभी कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता है जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिये अच्छा तो यह होता है कि वे किसी साहित्य-समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी उन्हें उन सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के लिये आवश्यक हैं। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने

को समझा करते थे। भिन्न भिन्न लोगों में भिन्न भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में निपुण है तो दूसरा दूसरी में। समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें; अतः हम दूसरों की भूल चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम कई ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बड़े बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक-बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के संबंध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। समाज एक परेड है जहाँ हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथियों के साथ साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञापालन करना सीखते हैं, इनसे भी बढ़कर और और बातें हम सीखते हैं। हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिये कुछ स्वार्थत्याग करना सीखते हैं, सद्गुणों का आदर करना और सुंदर चाल ढाल की प्रशंसा करना सीखते हैं। स्वसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिए जो भले आद-मियों के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबरवालों से प्रसन्नता का व्यवहार, और छोटों के प्रति कोमलता का व्यव-हार भलेमानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुंदर वस्तु को

देखकर हम सब लोग प्रसन्न होते हैं। सुंदर चाल ढाल को देख हम सब लोग आनंदित होते हैं। मीठे वचनों को सुनकर हम सब लोग संतुष्ट होते हैं। ये सब बातें हमें मनोनीत होती हैं, शिक्षा द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुकूल होती हैं। किसी भले आदमी को यह कहते सुनकर कि फटी पुरानी और मैली पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ते नहीं बनता, हमें हँसना न चाहिए। सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में कोई उजड्ड गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

'भलामानुस किसे कहते हैं?' यह बात पूछी भी बहुत जाती है और बतलाई भी बहुत जाती है। मैं इसके विषय में पुस्तक के आरंभ ही में थोड़ा बहुत कह चुका हूँ। यहाँ पर मुझे केवल यही कहना है कि यदि शिक्षा से तीन चौथाई भलमनसाहत आती है तो सत्संग से कम से कम चौथाई अवश्य आती है। चतुराई, बुद्धिमानी, हृदय की कोमलता आदि सब कुछ होने पर भी बिना समाज-संसर्ग के व्यवहार-कुशलता नहीं आती। हीरा जब तक खराद पर नहीं चढ़ता, उसकी चमक सबको नहीं दिखाई देती। प्रसिद्ध निबंध-लेखक एमर्सन कहता है—"भलमनसाहत शब्द का प्रयोग व्यक्तिगत गुणों के लिये होता है। यद्यपि इस शब्द के अभि-प्राय के अंतर्गत बहुत सी अनोखी और कल्पित बातें जोड़ी जाती हैं, पर इस विषय में मनुष्य जाति का एक सामान्य

लक्ष्य है। वह वस्तु जिससे प्रत्येक देश के शक्तिमान् पुरुष परस्पर मिलते हैं, जिससे एक दूसरे का साथ पसंद करते हैं और जो ऐसी निर्दिष्ट है कि उसका अभाव तुरंत खटक जाता है, कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी किसी समय कहीं कहीं उत्पन्न हो जाया करती हो, बल्कि वह सारे मनुष्यों के गुणों और शक्तियों का एक औसत परिणाम है। यह उस वर्ग के लोगों की भावनाओं और गुणों से उत्पन्न एक व्यापक आदर्श है जिनमें सबसे अधिक शक्ति है, जो वर्त्तमान संसार के अगुआ हैं। यद्यपि इस आदर्श में भावनाओं की पूर्ण उच्चता का समावेश नहीं होता, पर इसमें उतनी उत्तमता रहती है जितनी का निर्वाह सारे समाज में हो सकता है। भलमनसाहत एक ऐसा मिश्रित द्रव्य है जिसमें सदाचार, चतुराई, सुंदरता, धन और अधिकार का योग रहता है।" एमर्सन की इस परिभाषा में मुझे बहुत अत्युक्ति दिखाई पड़ती है। भलमनसाहत का मूलधन, अधिकार, चतुराई, सुंदरता इत्यादि नहीं है, बल्कि सहानुभूति है। भलमनसाहत वह शक्ति है जिससे मनुष्य अपने को उन लोगों के इस प्रकार अनुकूल करता है जिनसे वह मिलता है कि उन्हें अपनी छोटाई का ध्यान नहीं होने पाता, उन्हें कोई बात खटकने नहीं पाती और उनमें आत्ममर्यादा का भाव पुष्ट होता है। दिल्ली के बादशाह नासिरुद्दीन महमूद में इस प्रकार भलमनसाहत थी। एक दिन वह अपनी बनाई एक पुस्तक अपने एक सरदार

को दिखा रहा था। सरदार ने उस पुस्तक में कई अशुद्धियाँ बतलाईं। सरदार ने जैसा कहा, नासिरुद्दीन ने वैसा ही बना दिया। पर जब वह सरदार चला गया, तब फिर नासिरुद्दीन ने काटकर वही बना दिया जो उसने पहले लिखा था। जब लोगों ने इसका कारण पूछा, तब बादशाह ने कहा—"भाई! मैं जानता था कि जो मैंने लिखा है, वह ठीक है; पर यदि मैं न काटता तो सरदार का जी टूट जाता। इस-लिये मैंने उसके सामने काट दिया था, अब उसे फिर ठीक कर लिया।" पोप क्लिमेंट जब गद्दी पर बैठा, तब भिन्न भिन्न देशों के राजदूत बधाई देने के लिये आए। जब राजदूतों ने झुक झुककर सलाम किया, तब पोप ने भी उन्हें बड़े आदर के साथ सलाम किया। धर्म्माचार्य ने कहा—"महाराज! सलाम का जवाब देना मर्य्यादा के विरुद्ध है।" पोप ने कहा—"मैं अभी इतने दिनों तक पोप नहीं रहा हूँ कि भलमनसाहत भूल जाऊँ।" एक दीन और अनाथ स्त्री रोग से पीड़ित थी। मैंने उसके लिये एक डाक्टर का प्रबंध कर दिया। जब वह डाक्टर के यहाँ से लौटी, तब उसकी निपुणता आदि के विषय में कुछ न कहकर उसकी शिष्टता और भलमनसाहत का बखान करने लगी। वह बार बार यही कहती—"अहा! वह कैसा भला आदमी है! उसने मुझ पर बड़ी दया दिखलाई और वह मेरे दुःख से सचमुच दुःखी हुआ।"

यदि सहानुभूति ही भलेमानुस का सच्चा लक्षण है तो

थैकरे का यह कहना बहुत ठीक है—"भलेमानुस बिरले ही मिलते हैं।" आगे चलकर यह धुरंधर उपन्यासकार, जो स्वयं भलमनसाहत का मूर्तिमान् उदाहरण था, इस विषय में इस प्रकार कहता है—"ऐसे कितने आदमियों को हम बता सकते हैं जिनके आशय उदार हों, जिनका सत्य अटल हो—अटल ही नहीं बढ़ा चढ़ा हो, जो क्षुद्रता के अभाव के कारण सीधे सादे हों, जो संसार में छोटे बड़े सब के साथ समान सहानुभूति रख सकते हों? हमें ऐसे सैकड़ों मिलेंगे जिनके कपड़े लत्ते अच्छे हों, ऐसे बीसों मिलेंगे जो अदब कायदा जानते हों, ऐसे भी अनेक मिलेंगे जिन्होंने फैशन में खूब बढ़-कर बाजी मारी हो; पर भलेमानुस कितने मिलेंगे?" कपड़े लत्ते पहनने में एकता होनी ही काफी नहीं, अदब कायदों को घोख रखना ही बस नहीं, लटक के साथ धड़ाधड़ बातचीत करना ही सब कुछ नहीं। तुम्हें इस धर्म-वाक्य को सदा स्मरण रखना चाहिए और उस पर चलना चाहिए कि "तुम लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ करें।" इसी वाक्य में सच्ची भलमनसा-हत का सार भरा हुआ है। उदार, बुद्धिमान, पुरुषार्थी और सत्यपरायण होना, वृद्ध लोगों के प्रति सम्मान और युवा पुरुषों के प्रति समानता का व्यवहार करना तथा सब किसी के साथ ऐसा बर्त्ताव करना जिसमें आत्मोत्सर्ग का भाव पाया जाय, ये ही भलेमानुसों के लक्षण हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि संग साथ का अभाव और संगी साथी चुनने में चौकसी न रखना ये दोनों बातें बुरी हैं। बराबर देखने में आता है कि सैकड़ों युवक अपने घरों के शांतिमय और शुद्ध जीवन को छोड़, जहाँ वे अपने माता-पिता को देखकर आनंद से दिन बिताते थे, गाँवों से बड़े बड़े नगरों में बड़े बड़े प्रलोभनों और बुराइयों के बीच जाते हैं, जहाँ कोई हाथ पकड़कर सन्मार्ग पर ले जानेवाला वा कुमार्ग से बचानेवाला नहीं मिलता। मैं समझता हूँ कि इस स्थान-परिवर्त्तन में जिन जिन बातों की आशंका होती है, उनका विचार नहीं किया जाता। युवकों के हृदय में स्वभावतः साहस तथा नई नई वस्तुओं के लिये उत्कंठा होती है। उन्हें अपने ऊपर इतना विश्वास होता है कि वे कभी कभी प्रलो-भनों के बीच केवल यह दिखलाने के लिये जा पड़ते हैं कि वे उनके चक्कर में नहीं फँस सकते। नगरों के हुल्लड़ और कलकल में यदि कहीं से कोई सचेत करनेवाली ध्वनि आती भी है तो वह 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' की तरह होती है। युवा पुरुष अपने मार्ग के किनारे के लुभानेवाले फलों और फूलों ही को देखते हैं, उनके बीच जो विषधर सर्प छिपे रहते हैं, उन्हें नहीं देखते। यहाँ उन सब बातों के अलग अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं जिनके बुरे अनुभव इतने अधिक होते हैं कि उन पर ध्यान नहीं जाता। पर इस अवसर पर मैं इस सिद्धांत का विरोध अवश्य करूँगा कि

युवा पुरुषों को अपनी राह आप निकालनी चाहिए। यह सिद्धांत बहुधा लोगों के मुँह पर रहता है। पर यदि इसके अनुसार युवा पुरुष अपनी राह आप निकालेंगे तो वे उसके काँटों से कदापि नहीं बच सकते। मेरी समझ में तो युवा पुरुषों को अपनी राह निकालने का भार अपने ही ऊपर न रखना चाहिए। मैं उन लोगों की शिक्षा का बड़ा भारी विरोधी हूँ जो कहते हैं कि युवा पुरुषों को संसार में सब प्रकार का अनुभव प्राप्त करना चाहिए, जिनका उपदेश है कि मनुष्य को यह देखने के लिये कि भाड़ गरम है या नहीं, भाड़ में कूद पड़ना चाहिए। ऐसी शिक्षाओं से बहुत से होनहार युवकों का सत्यानाश हुआ है। मैं नहीं समझता कि धार्मिक पिता कैसे अपने पुत्रों को इस प्रकार संसार का अनुभव प्राप्त करने देते हैं। इस प्रकार का अनुभव प्राप्त करने का अर्थ क्या है? यही न कि धार्मिक होने का प्रयत्न करने के स्थान पर निषिद्ध वस्तुओं को ग्रहण करें, अपने कोमल हृदय को विषय-वासनाओं से कलुषित करें? यदि वे संसार की बुरी बातों का अनुभव प्राप्त करेंगे तो वे धीरे धीरे अभ्यस्त हो जायँगे और फिर उन्हें उन बुरी बातों से घृणा न रह जायगी। यदि वे संसार का अनुभव प्राप्त करेंगे तो उस शांतिमय सुमार्ग पर चलना भूल जायँगे जिस पर वे पहले चलते थे। यदि वे संसार की बुरी बातों का अनुभव प्राप्त कर लेंगे तो उनकी दृष्टि स्तंभित और चकित हो जायगी

और वे भले बुरे की पहचान न कर सकेंगे। जब किसी युवा पुरुष के संबंध में यह कहा जाय कि उसने संसार में सब तरह का अनुभव प्राप्त किया, तो यह समझना चाहिए कि वह बुराइयों से अभ्यस्त हो गया और उसने अपनी समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया।

जो शिक्षा इसलिये कुप्रवृत्ति का विष पान करने का अनुरोध करती है जिसमें उसका प्रभाव अभ्यास द्वारा नष्ट हो जाय, क्या वह उत्तम शिक्षा है और क्या उससे पुरुषार्थ और साहस आ सकता है? इतिहास ऐसा नहीं कहता। सब लोग जानते हैं कि अकबर कैसा पुरुषार्थी और धीर था। पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उस धीरता और पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिये उसे संसार की उन बुरी बातों का अनुभव प्राप्त करना पड़ा था जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है। काबुल में अपने चचा के यहाँ अपनी बाल्यावस्था का बहुत सा समय बिताकर वह भारतवर्ष में आया और युवावस्था के आरंभ होने के पहले ही उसने अपना राजकाज सँभाला। महाकवि तुलसीदासजी बहुत दिनों तक गृहस्थधर्मानुसार अपने परिवार में अनुरक्त रहे। इसके उपरांत उसी शुद्ध अनुराग को उन्होंने परमात्मा की ओर लगाया और अपनी कविता द्वारा भक्ति रस का वह स्रोत बहाया कि उसमें सारा उत्तरीय भारत मग्न हो गया। उसी प्रकार महाराणा प्रताप, नाना फड़नवीस, सर टी० माधवराव, भट्टोजी दीक्षित, ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि

बड़े बड़े वीर, राजनीतिज्ञ और पंडित हो गए हैं जिन्हें संसार की बुरी बातों के अनुभव की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। जो सोता दलदल और खर-पतवार में फूटता है, वह तलैया के रूप में स्थिर रह जाता है। अतः यह न समझना चाहिए कि जो युवक सब प्रकार के रंग में रहकर संसार का अनुभव प्राप्त करता है, वह आगे चलकर पुरुषार्थ और साहस के कार्य्य कर सकता है।

जब हम डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र के जीवन की ओर ध्यान देते हैं, तब देखते हैं कि उनका युवा काल 'संसार का अनुभव' प्राप्त करने में नहीं बल्कि धैर्यपूर्वक अध्ययन में बीता। उन्होंने अपना समय एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय के उत्तम उत्तम ग्रंथों के देखने में और विद्वानों के व्याख्यान सुनने में लगाया। लोग कहेंगे कि वे एक गरीब आदमी थे, इससे संसार के प्रलोभनों से बचे रहे; उनकी परीक्षा नहीं हुई, इससे वे पतित नहीं हुए। पर सर टी० माधवराव, रमेशचंद्र दत्त आदि, जिन्होंने राज्यप्रबंध और विद्वत्ता में इतना नाम कमाया, समृद्ध कुलों में उत्पन्न हुए थे; पर उन्हें वारांगना-द्वार-प्रवेश की प्रणाली का अनुसरण नहीं करना पड़ा था। मनुष्य का जीवन क्रम-क्रम से उच्च होता है। जिसकी युवावस्था शुद्धता-पूर्वक व्यतीत होती है, उसी का जीवन आगे चलकर उच्च होता है। जिसकी युवावस्था विषय-सेवन में नष्ट हुई है, उसका आगम अँधेरा रहता है, उसका जीवन मेघाच्छन्न रहता है—

विपत्ति और निराशा में पड़कर पछताने के सिवा उसे कुछ हाथ नहीं आता।

युवा पुरुषों को इस प्रकार के बुरे अनुभवों से बचाने के लिए सब से सीधा और सुगम उपाय सत्संग है। अच्छे आदमियों के समाज में बैठने से, जहाँ परस्पर प्रेम और शांति का आनंद रहता है, बड़ी भारी रक्षा रहती है। यह निश्चय समझना चाहिए कि ऐसे बहुत कम मनुष्य मिलेंगे जो पहले पहल प्रसन्नता के साथ बुराइयों में फँसते हों, तथा संसार की बुराइयों का अनुभव प्राप्त करते हुए जो कुछ हिचकते न हों और जिनके जी में कुछ खटका न होता हो। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश युवा पुरुष जब पहले पहल कुमार्ग पर पैर रखते हैं, तब यदि संसार में कोई उनका हाथ पकड़नेवाला हो तो वे उससे हट सकते हैं। संसार में सब प्रकार के रंग में रहने का उपदेश तो बहुत लोग किया करते हैं और बहुत से लोग विषय-मद में मत्त भी होते हैं, पर अपनी इस मौज से आगे चलकर वे ऊब जाते हैं और सौ में निन्नानबे मनुष्य इस मौज की लीक ग्लानि और घृणा के साथ पीटते चले जाते हैं, उन्हें उसमें कोई आनंद नहीं रह जाता, और अंत में उनकी आत्मा इतनी जड़ हो जाती है कि उसमें सत्य और सौंदर्य्य का कुछ भी अनुभव नहीं रह जाता। पर इस पतित दशा में पड़ने के पहले मनुष्य अच्छी बातों के लिये छटपटाता अवश्य है, और उसका यह छटपटाना सफल हो

सकता है, यदि वह इस संसार के कलुषित अँधेरे मार्गों से निकलकर किसी अच्छे परिवार वा अच्छे समाज में पड़ जाय।

हमारे बड़े नगरों के युवक साधारणतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—एक वे जिन्होंने लड़कपन में कुछ धर्म-संबंधी शिक्षा पाई, दूसरे वे जिन्होंने संसार के व्यवहारों में प्रवेश करने के पहले इस प्रकार की तैयारी नहीं की। पहले प्रकार के लोगों के लिए तो कथा-वार्त्ता, धर्मोपदेश आदि बहुत से साधन मिल जाते हैं जिनसे उनके चित्त पर घर ही का सा संस्कार बना रहता है। उनके लिये किसी नए यंत्र की आवश्यकता नहीं होती। जो यंत्र उनके पास रहता है, उसी के स्वच्छंद उपयोग की आवश्यकता होती है। धर्मोपदेशकों को युवा पुरुषों की बहुत खोज खबर रखनी चाहिए, उन्हें कुमार्ग से बचाने का उद्योग करना चाहिए, उनकी सहायता के लिये प्रत्येक समय उद्यत रहना चाहिए। माता-पिता को भी चाहिए कि युवकों को घर से बाहर किसी अन्य स्थान पर भेजते समय ऐसा प्रबंध करें कि उनके चित्त का संस्कार शुद्ध रहे। हमारे युवा पुरुष चाहे जिस नगर में जायँ, उन्हें धर्म-चर्चा सुनने का अवसर मिल सकता है, धार्मिक सज्जनों की मंडली मिल सकती है; क्योंकि भारतवर्ष के ऐसा धार्मिक देश दूसरा नहीं।

अब रह गए दूसरे वर्ग के लोग जिन्होंने परिवार में सच्चा सुख नहीं प्राप्त किया है, जो किसी कारणवश धार्मिक संस्कार

से वंचित रहे हैं। ऐसों के लिये तो कोई उपाय बताना कठिन है। स्वसंस्कार का प्रयत्न यदि हृदय से करें तो ऐसे युवा पुरुष भी दुष्ट प्रलोभनों से बच सकते हैं; पर उनके लिये सबसे अच्छा उपाय यही है कि वे सत्संग करें। सत्संग का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसमें से बहुत से लोग तो समाजों और साहित्य-संस्थाओं में सम्मिलित होकर अपने समय का सदुपयोग कर सकते हैं और बुराइयों में पड़ने से बचे रह सकते हैं। पर बहुत से ऐसे निकलेंगे जिनकी सभा-समाजों की ओर प्रवृत्ति नहीं होगी, जिन्हें धर्मोपदेश अच्छे नहीं लगते, जो अधिक चहल पहल और मजेदारी की बातें चाहते हैं। बहुत से युवा पुरुष जो गलियों में टेढ़ी टोपी देकर निकलते हैं, जो अश्लील ठुमरी टप्पा गाते चलते हैं, जो दिनरात शतरंज, गंजीफा खेलते रहते हैं, जो दुनिया में सब तरह के मजे उठाने का दम भरते हैं, जो मेलों तमाशों में खूब बन ठनकर निकलते हैं, जो महफिलों में बिना बुलाए पहुँचते हैं, उनके लिये क्या किया जा सकता है? वे समाज के कोढ़ हैं वे उसी प्रकार भयंकर हैं जिस प्रकार चोर और डाकू, जिनके पीछे पुलिस तैनात रहती है। वे समाज में बड़े बड़े अनर्थों का सूत्रपात करते हैं।

अब मैं आत्मसंस्कार में रत युवा पुरुषों के कामकाज की ओर आता हूँ। उन्हें जीविका के लिये कुछ न कुछ काम करना पड़ता है और वे उसे अच्छी तरह करते हैं। किसी कार्य में, चाहे वह हाथ का हो चाहे मस्तिष्क का, सफलता प्राप्त करने

के लिये सबसे पहली बात यह है कि वह अच्छी तरह किया जाय। यह हो सकता है कि वह कार्य हमारी रुचि के अनुकूल न हो, पर उस दशा में उसे करके हम अपने ऊपर दूना प्रभुत्व प्राप्त करेंगे; और जिस हिसाब से उसे करने में हमें कठिनाई होगी, उतना ही अच्छा उसका हमें फल मिलेगा। तब तक प्रयत्न पर प्रयत्न करते रहने से, जब तक कि कार्य सिद्ध न हो, हममें दृढ़ता आवेगी और हमारे उद्देश्य पुष्ट होंगे। नीति की दृष्टि से यदि देखा जाय तो बात बहुत सीधी है। जिसका हम काम करते हैं, उससे एक प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं और हमारी मर्य्यादा इसी में है कि हम उसे अच्छी तरह पूर्ण करें। मुझे यह देखकर बड़ा दुःख और आश्चर्य्य होता है कि बहुतेरे युवा पुरुष इस विषय में बड़ी अवहेलना करते हैं और अपने काम को मन लगाकर नहीं करते, बल्कि उसे बड़ी ढिलाई के साथ करते हैं। इससे काम करनेवाले का जो नुकसान होता है, वह तो होता ही है, उनकी भी बड़ी भारी हानि होती है; क्योंकि कर्तव्य की प्रत्येक त्रुटि से भले बुरे का विवेक क्षीण होता है और न्यायबुद्धि कुंठित होती है। यह आत्मसंस्कार का एक अंग है कि जिस कार्य को करना, उसे अच्छी तरह करना।

राजा० हरिश्चंद्र ही की कथा की ओर ध्यान दो। जिस समय वे अयोध्या से चलकर काशी आए, उन्होंने एक डोम की सेवा स्वीकार की। डोम ने उन्हें मरघट की रखवाली करने का काम सुपुर्द किया। सोचने की बात है कि क्या यह काम

उनकी रुचि के अनुकूल रहा होगा ? पर उन्होंने इस काम को अपने ऊपर लेकर उसे अच्छी तरह पूरा किया, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की। जैसा कि सत्यहरिश्चंद्र नाटक में दिखलाया गया है, वह अँधेरी रात में भीगते हुए बड़ी तत्परता के साथ श्मशान में फेरा लगाते थे और जो कोई मुर्दा लेकर आता था, उससे डोम का कर वसूल करते थे। वे अपने कर्तव्य पर बराबर दृढ़ रहे, यहाँ तक कि जब स्वयं उनकी स्त्री उन्हीं के पुत्र का शव लेकर आई, तब भी, यह जानते हुए भी कि उसके पास फूटी कौड़ी नहीं है, उन्होंने कर्तव्यानुसार श्मशान का कर माँगा और वे आधा कफन फड़वाने पर उद्यत हुए। जब पांडवों ने अज्ञातवास के समय राजा विराट के यहाँ नौकरी की थी, तब सब भाइयों ने किस प्रकार अपने अपने कार्य में लगकर अपने स्वामी का हित साधन किया। दक्षिण में बहमनी राजवंश का संस्थापक हसन गाँगू एक ब्राह्मण का सेवक था। उसके परिश्रम और उसकी तत्परता को देख ब्राह्मण ने भविष्यद्वाणी की कि तू एक दिन बादशाह होगा। विलायत में जार्ज मूर नामक एक प्रसिद्ध पुरुष हुआ है। वह पहले पहल दिहात से चलकर लंदन के एक बजाज के यहाँ नौकर हुआ। यद्यपि वह काम उसकी तीक्ष्ण बुद्धि के अनुकूल नहीं था, पर वह अपने काम में बराबर मुस्तैद रहता था और अपने स्वामी को संतुष्ट रखता था। उसने जब अपने को अपने साथियों से मिलाया, तब उसे जान पड़ा

कि दिहात से आने के कारण वह शिक्षा में बहुत पीछे है। अतः उसने यह नियम किया कि दिन भर तो परिश्रम के साथ दूकान का काम करूँ और रात को स्कूल में आकर शिक्षा प्राप्त करूँ। धीरे धीरे डेढ़ वर्ष में उसने बहुत सी जानकारी प्राप्त कर ली और वह अपने साथियों की बराबरी करने योग्य हो गया। इस बात की ओर लक्ष्य करके वह कहता है—"किसी को भाग्य पर भरोसा न करना चाहिए; यह निश्चय समझना चाहिए कि गुण ही भाग्य है। वही युवा पुरुष संसार में बढ़ सकता है जो जानकारी रखता है और जो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये पूरा प्रयत्न करता है"। बजाज की नौकरी छोड़कर वह एक गोटे-पट्ठेवाले का एजंट हुआ और नगरों में घूम घूमकर माल की बिक्री का उद्योग करने लगा। उसने इतने लाग और परिश्रम से काम किया कि थोड़े ही दिनों में उस कारखाने का काम दूना हो गया जिसमें वह नौकर था। उसकी यह कार्यदक्षता और तत्परता को देख एक दूसरी गोटे की दूकान ने उसे हिस्सेदार बनाया और वह स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने लगा। वह दिन रात में १६ घंटे काम करता था। धीरे धीरे उसने कई नगरों में दूकानें खोलीं और उसका काम इतना चमका कि वह देखते ही देखते बड़ा आदमी हो गया।

इस बात को अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि संसार में जितने प्रतापी और महान् पुरुष हो गए हैं, वे सब खूब काम

करनेवाले थे। नेपोलियन की लड़ाइयों में यह विशेषता थी कि उसके सामने शत्रु की सारी सेना तितर बितर हो जाती थी। वह इस कौशल के साथ आक्रमण करता था और इतनी साव-धानी रखता था कि उसका परिणाम अनिवार्य्य होता था, उसकी गति का अवरोध असंभव होता था, उसके सामने बड़ी बड़ी सेनाएँ तिनके के समान उधरा जाती थीं। एक पुरानी कहावत है कि "मुझे खड़े होने भर को जगह दो; मैं सारे संसार को हिला डालूँगा"। इसे थोड़ा बदलकर यदि हम इस प्रकार कहें—"मुझे अपनी स्थिति को अच्छी तरह जमा लेने दो, तो मैं सारे संसार को हिला डालूँगा" तो यह नेपोलियन के विषय में ठीक घट जाय; क्योंकि उसने अपने सारे जीवन में इसी बात का दृष्टांत दिखलाया है। इसी मंत्र का अव-लंबन करके गौतम बुद्ध ने सारे संसार को हिला दिया। उन्होंने कभी अनुकूल अवसर का आसरा नहीं देखा, बल्कि वे सत्य का अनुसरण करते हुए निरंतर अग्रसर होते गए। हमें अवसर की ताक में हाथ पर हाथ रक्खे बैठे न रहना चाहिए, बल्कि जो क्षण हमारे सामने आवे, उसी में अपने लक्ष्य को आगे बढ़ाना चाहिए। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस समय हिंदी के लिये प्रयत्न आरंभ किया, वह समय कुछ बहुत अनुकूल नहीं था। पर उन्होंने हिंदी के लिये अच्छी लंबी चौड़ी राह निकाल दी। जिस कार्य्य में उन्होंने हाथ लगाया, उसे पूर्ण धैर्य्य और परिश्रम के साथ निबाहा। इसी से उनकी

समस्त रचनाओं में एक विलक्षण पूर्णता दृष्टिगोचर होती है और उनकी निपुणता टपकी पड़ती है : संसार में जितनी बड़ी बड़ी जातियाँ हुई हैं, सब पूर्ण रूप से कार्य्य-निर्वाह करनेवाली थीं। यूनानियों ही को लीजिए जिनकी विद्या, बुद्धि और वीरता की कहानियाँ सारे संसार में फैली हुई हैं। प्राचीन हिंदुओं को लीजिए जो कला-कौशल के ऐसे ऐसे चिह्न छोड़ गए हैं जिनका इस गिरी दशा में भी हिंदुओं को अभिमान है। उनके हाथ की गढ़ी हुई जो मूर्तियाँ आज हमें पुराने खँडहरों में मिलती हैं, उनकी गठन और उनके सौंदर्य्य के सामने आजकल के मंदिरों की मूर्तियाँ हमें नहीं जँचतीं। वे जैसे जैसे बृहत् और मनोहर काव्य छोड़ गए हैं, वैसे फिर इधर पिछले खेवे के हिंदुओं से न बने। उनमें जो पूर्णता दिखलाई पड़ती है, वह पीछे के बने काव्यों में नहीं है।

आजकल के समय में भी राजा रविवर्म्मा ने चित्रकला में जो चमत्कार दिखाया है, वह परिश्रमपूर्वक पूर्णता प्राप्त करके ही। वे अपनी कला के अभ्यास और अध्ययन में रात रात भर जागते रह जाते थे। अँगरेजों का जो आज इतना प्रचंड प्रताप देखने में आता है, उसका कारण उनका अध्यवसाय और प्रत्येक कार्य का पूर्ण रूप से करने का जातीय गुण है। उनकी कार्य्य-प्रणाली प्रशंसनीय है। पार्लामेंट महासभा का कार्य्य थोड़े ही से लोगों के द्वारा संपादित होता है। पर ये थोड़े से लोग कठिन परिश्रम करनेवाले होते हैं। राज-

काज के बड़े बड़े पद आराम से पैर फैलाकर सोने के लिये नहीं हैं, बल्कि घोर मानसिक परिश्रम के लिये हैं। इन पदों को स्वीकार करनेवाले बहुत से लोग तो कठिन परिश्रम करते करते अकाल ही काल के गाल में जा पड़ते हैं।

यदि पूर्णता उत्तम कार्य्य के लिये एक आवश्यक अंग है, तो क्रम-व्यवस्था भी उससे कुछ कम आवश्यक नहीं है। सच तो यह है कि उसके बिना पूर्णता आ ही नहीं सकती। युवा पुरुषों को सबसे बढ़कर तो यह बात समझ रखनी चाहिए कि यदि उन्हें काम अच्छी तरह से करना है तो वे एक समय में एक ही काम करें और सबसे पहले उस काम को करें जो सबसे अधिक आवश्यक हो। सारांश यह कि उन्हें जो काम करना हो उसका एक अंदाज बाँध लें और यह देख लें कि उसके कौन से अंश ऐसे हैं जो जरूरी हैं और कौन से ऐसे हैं जिन्हें वे थोड़ी देर के लिये टाल सकते हैं। इसके अनंतर जो अंश सबसे कठिन हो, उसके लिये अधिक समय और परिश्रम रक्खें। शैली ही कार्य्य की उत्तमता का मूल मंत्र है। इससे मेरा अनुरोध है कि वे नित्य अपने काम का एक नियम बाँध लें और विश्राम के लिये भी उपयुक्त समय रख लें। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वे इन नियमों को ब्रह्मा की अटल लोक बना लें; क्योंकि इस प्रकार की बेड़ी डाल लेना बुद्धिमानी नहीं है। मेरा अभिप्राय यह है कि वे अपनी सुविधा के अनुसार ऐसा नियम कर लें कि काम

नियमित गति से बराबर चला चले और समय नष्ट न हो। जब वे देखेंगे कि उन्नति के लिये कितना कम समय उनके हाथ में है, तब वे आप उसे व्यर्थ के आमोद प्रमोद में नष्ट करना न चाहेंगे। बहुतेरे युवा पुरुषों को नित्य नौ नौ घंटे काम करना पड़ता है और यदि उनका काम ऐसा हुआ जिससे जी ऊबे, तो उन्हें कम से कम एक घंटा नित्य व्यायाम के लिये रखना ही होगा। इस प्रकार दस घंटे तो निकल गए। नित्य-क्रिया करने, सोने, घर की देख भाल आदि करने के लिये भी नौ घंटे रख लेने चाहिएँ। एक घंटा भोजन के लिये चाहिए। इस हिसाब से चार घंटे पढ़ने लिखने और मन बहलाने के लिये बचे। अब यदि इन चार घंटों का उचित उपयोग किया जाय, तो एक तत्पर पुरुष बहुत कुछ उन्नति कर सकता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इसमें उसे सोच विचार में नष्ट करने के लिये समय न मिलेगा कि अब इसके उपरांत क्या क्या करना चाहिए। अतः उसे पहले ही से सब निश्चित कर रखना चाहिए कि किसके बाद कौन काम करना होगा, जिसमें वह चट एक काम छोड़कर दूसरे में लग जाय। क्रम-व्यवस्था के इस सिद्धांत का उपयोग वह अध्ययन ही में नहीं, काम काज में भी करे। इससे होगा क्या कि उसे अपने भिन्न भिन्न कार्यों में कोई कठिनाई नहीं होगी और उसका चित्त ठिकाने रहेगा, वह उस हैरानी से बचा रहेगा जो अव्यवस्थितों को हुआ करती है। उसके सब काम एक ढर्रे पर चले चलेंगे, उनमें व्यति-

क्रम न होगा। यदि कोई अजानकार किसी बड़े स्टेशन पर जाय, तो उसे पहले वहाँ का गोरखधंधा कुछ समझ में न आवेगा, सब बातें व्यवस्था-हीन दिखाई देंगी। वह इधर उधर बहुत सी गाड़ियों को, जिनमें से किसी में मुसाफिर भरे होंगे, किसी में माल लदा होगा, कोई खाली होगी, आते जाते देखेगा और सोचेगा कि न जाने क्यों ये लड़कर चूर चूर नहीं हो जातीं। पर जब वह वहाँ कुछ देर ठहरकर एक एक बात को ध्यान से देखेगा, तब उसे क्रम और व्यवस्था का पता लगेगा और वह जानेगा कि प्रत्येक ट्रेन के लिये अलग अलग लाइन है, प्रत्येक के आने जाने का समय नियत है और प्रत्येक की चाल बँधी हुई है। अर्थात् उसे विदित होगा कि सारा व्यापार पूर्व-निश्चित नियम और व्यवस्था के अनुसार होता है और कोई बात 'संयोग' के ऊपर नहीं छोड़ दी गई है। जब वह इतना जान लेगा, तब उसे समझ पड़ेगा कि प्रत्येक मनुष्य जो वहाँ काम में लगा दिखाई पड़ता है, क्योंकर अपने काम को बिना किसी घबराहट के बेधड़क करता चला जाता है; तब वह सोचेगा कि यह सब सुंदर व्यवस्था का फल है कि लोग इतने बेखटके रहकर शांति के साथ अपना अपना काम करते जाते हैं। बहुत से कामों को एक साथ जरूरी समझने से—रह रहकर कभी इस काम को अधिक जरूरी समझने से और कभी उस काम को—जो गड़बड़ी होती है, उसका बचाव क्रम और व्यवस्था पर ध्यान देते रहने से हो सकता है।

क्रम-व्यवस्था के लिये धैर्य अत्यंत आवश्यक है। यदि धैर्य से काम लिया जायगा तो क्रम-व्यवस्था सुगमता से आ जायगी; और यदि क्रम-व्यवस्था आ गई तो वह अधीरता को पास न फटकने देगी, शांति बनाए रहेगी।

यदि क्रम-व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जायगा तो यह अवश्य है कि हर एक काम ठीक समय पर होगा। किसी काम में जल्दी करना भी उतनी ही मूर्खता की बात है जितना किसी काम में देर करना। दोनों अवस्थाओं में समय नष्ट होता है, प्रबंध में गड़बड़ी होती है तथा अव्यवस्था और अनिश्चितात्मकता उत्पन्न होती है। कोई युवक एक राजमंत्री के पास नौकरी के लिये गया। उसने उससे दूसरे दिन दस बजे सबेरे आने के लिये कहा। वह हड़बड़ी के मारे साढ़े नौ ही बजे मंत्री के डेरे पर पहुँचा। पर जब वह मंत्री के सामने गया, तब उसने मंत्री का रुख बिलकुल बदला हुआ पाया। मंत्री ने उसे बहुत ऊँचा नीचा सुनाया और कहा—"मूर्ख ही उतावली करते हैं, तुम यहाँ से चले जाओ।" केवल राजपुरुष ही नहीं, सब लोग जो बड़े बड़े काम करते हैं और बड़ी बड़ी बातें सोचते हैं, घंटों और मिनटों का ठीक ठीक हिसाब रखते हैं। मान लीजिए कि उन्होंने 'अ' को दस बजे बुलाया और 'ब' को ग्यारह बजे। 'ब' को चाहिए कि वह ठीक समय पर उनके पास जाय। यदि वह ऐसा न करके उस समय उनके पास जायगा जो समय उन्होंने 'अ' से

मिलने के लिये रक्खा है, ते। न उन्हीं का कोई लाभ होगा और न उसी का कोई काम निकलेगा। मैंने ऐसे बहुत से असंयमी और अव्यवस्थित लोगों को देखा है जो बहुधा यात्रा किया करते हैं और समय से घंटा आध घंटा पहले ही तैयार होकर स्टेशनों पर जाकर इधर से उधर टहला करते हैं। मनुष्य के कार्य जितने उतावली से नष्ट होते हैं, उतने और किसी वस्तु से नहीं। यदि कोई मनुष्य किसी कार्य के एक अंश में ही बहुत सा समय नष्ट कर देगा, ते। उसे और अंशों को पूरा करने के लिये उतना समय न रह जायगा जितना चाहिए। महाराणा प्रतापसिंह मृत्युशय्या पर पड़े थे। उस समय उन्हें किसी बात पर इतना दुःख नहीं हुआ जितना अपने पुत्र अमरसिंह की उतावली पर। वे कहते हैं—

एक दिवस एहि कुटी अमर मेरे ढिग बैठ्यो।
इतने ही में मृग एक आनि के तहाँ जु पैठ्यो॥
हरबराइ संधानि सर अमर चल्यो ता ओर।
कुटिया के या बाँस में फँस्यो पाग को छोर॥
अमर तौहू न रुक्यो॥

बढ़न चहत आगे वह पगिया खैंचत पाछे।
पै नहिं जिय मैं धीर छुड़ावै ताको आछे॥
पागहुँ फटी सिकारहू लग्यो न याके हाथ।
पटकि पागि लखि झोपड़िहि अतिहि क्रोध के साथ॥
बैन मुख ते कढ़े॥

रहु रहु रे निर्बोध अमर-गति रोकनहारे।
हम न लेहिंगे साँस बिना तोहि आज उजारे॥
राजभवन निर्मान करि तेरो चिह्न मिटाई।
जो दुख पाए तोहि मैं सो देहौं सबै भुलाई॥
सुखद आवास रचि॥
तबहीं ते ये बैन सूल सम खटकत मम हिय।
यह परि सुखवासना अवसि दुख दिवस बिसारिय॥
अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम।
बेचि, सिसोदिय कीर्ति को यह करिहै अवसि निकाम॥
रुके हम सोच एहि॥

यूरोप के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ के विषय में भी एक घटना प्रसिद्ध है जिससे यह पता लगता है कि वह उतावली से कितना चिढ़ता था। उसने कुछ धर्म-संबंधी कागज पत्र लिख छोड़े थे और कहा था कि मेरे मरने के दिन इन्हें धर्म्माचार्य पोप के पास भिजवा देना। उसे मृत्युशय्या पर देख उसके मरने के दिन के पहले ही लोगों ने उससे पूछा—क्या ये कागज पोप के पास भेज दिए जायँ? उसने कहा—"नहीं, अभी कल तक और ठहरो। मैंने अपने जीवन भर उतावली कभी न करने का नियम कर लिया था और मैं सब काम ठीक समय पर करता था।" नीतिज्ञों का यह कथन है के "बहुत सोच विचार समय का अपहरण करनेवाला है"। ार उतावली भी ऐसी ही है। बुद्धिमान् मनुष्य समय का

ठीक ठीक हिसाब के साथ विभाग करके इन दोनों से अपने को बचाता है। क्रम और व्यवस्था सफलता के मूल मंत्र हैं। सब कार्य सुचारु रूप से और सुव्यवस्था के साथ होने चाहिएँ।

उस युवा पुरुष को, जिसे अपनी जीविका के लिये काम करना पड़ता हो, केवल पूर्णता और सुव्यवस्था ही का ध्यान न रखना चाहिए, बल्कि उसे संतोषी भी होना चाहिए। मेरे कहने का यह तात्पर्य्य नहीं कि उसे अपनी उन्नति के लिये यत्न न करना चाहिए, उसे अपनी शक्ति और योग्यता का अपनी समृद्धि के लिये उपयोग न करना चाहिए। मेरा मतलब यह है कि जो काम वह करता हो, उसे अपनी शान के खिलाफ न समझे। आजकल के नव-युवकों में यह बड़ा भारी दोष देखा जाता है कि वे अपने को बहुत बड़ा समझने लगते हैं। अपनी बड़ाई के आगे जिस पेशे को वे करते हैं, उसे तुच्छ समझते हुए वे उससे उदासीन रहते हैं और ऐसी चेष्टा प्रकट करते हैं कि मानों यह बड़ा भारी अंधेर हो रहा है जो उन्हें वह काम करना पड़ रहा है। यह दशा देखकर बड़ा खेद होता है, क्योंकि इससे नैतिक त्रुटि का आभास मिलता है। इससे यह प्रकट होता कि उनका मन काम में नहीं लगता, उनमें अपने कर्तव्य का पूरा भाव नहीं है और वे सत्य और मर्यादा के सिद्धांतों को नहीं समझते। जिस काम को हम अपने ऊपर लें, चाहे वह जैसा हो, हमारा यह

धर्म है कि हम उसे अपनी योग्यता के अनुसार भरसक करें। किसी काम को हम क्यों करें, इसका यही उत्तर यथेष्ट है कि हमें उसे करना है। कृष्ण भगवान् ने गीता में प्रसन्नतापूर्वक कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है। जिस समय अर्जुन मोहवश कर्म से विमुख होना चाहते थे, श्रीकृष्ण ने उन्हें सँभाला था, उनकी क्लीवता पर उन्हें धिक्कारा था। इँगलैंड में कार्लाइल नामक प्रसिद्ध ग्रंथकार हो गया है जो अपने जीवन भर कर्म का महत्त्व ही समझाता रहा, सच्चे परिश्रम की पवित्रता ही का उपदेश देता रहा कि मनुष्य को यह विचार नहीं करना चाहिए कि वह किस प्रकार का व्यवसाय वा काम करता है; उसे यही देखना चाहिए कि वह अपने काम को किस प्रकार करता है। उसका उपदेश अरण्य-रोदन के समान हुआ। उसने कहा—"मैं दो ही आदमियों का सम्मान करता हूँ, तीसरे का नहीं। एक तो परिश्रम में चूर कर्मकार का जो पृथ्वी ही की सामग्रियों से अपने परिश्रम द्वारा पृथ्वी पर मनुष्य का अधिकार स्थापित करता है। मैं उन काम में लगे हुए कड़े खुरखुरे हाथों का आदर करता हूँ जिनमें निपुणता मिली हुई सात्विकता का भुवन-व्यापी राजमुकुट रक्खा हुआ है। मुझे उस धूप और शीत खाए हुए धूल-धूसरित मुखड़े पर भक्ति है जिससे सीधी सादी बुद्धि टपकती है; क्योंकि वह पुरुषार्थी पुरुष का मुखड़ा है।......परिश्रम किए चलो, परिश्रम किए चलो! तुम अपने कर्त्तव्य में लगे रहो।

जिसका जी चाहे उससे विमुख हो; तुम उसमें लगे रहो। तुम संसार में सबसे अधिक आवश्यक वस्तु, अपनी रोटी, कमाने के लिये परिश्रम कर रहे हो। दूसरा मनुष्य, जिसकी मैं प्रतिष्ठा करता हूँ, और बहुत बढ़कर प्रतिष्ठा करता हूँ, वह है जो अपने शरीरपोषण के लिये नहीं, बल्कि आत्मा की पुष्टि के लिये परिश्रम करता है।......यदि कहीं मैं इन दोनों सम्मानित व्यक्तियों के लक्षण और गुण एक ही पुरुष में पाता हूँ जो बाहर से तो मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता पूर्ति के लिये और अंतःकरण में मनुष्य की सबसे उच्च आवश्यकता पूरी करने के लिये, श्रम करता है, तो मेरा हृदय उमगने लगता है।"

भक्तों में रैदास चमार का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसमें पुरुषत्व के दोनों लक्षण वर्तमान थे। वह आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्न करता हुआ अपने चमड़े के काम में भी दिन रात लगा रहता था। जब जाड़े की रात में और चमार अपना अपना काम बंद करके पड़ रहते, तब भी रैदास भगवान् का भजन करता हुआ, उत्साह के साथ चमड़े की काट-छाँट और सिलाई करता रहता था। अपने काम से जो थोड़ा बहुत अवकाश मिलता, उसे वह साधुओं के सत्संग में बिताता था। एक बार उसके यहाँ कुछ साधु आए। उन्होंने देखा कि उसकी दूकान पर इधर उधर चमड़े के कटे हुए टुकड़े पड़े हैं, एक किनारे पर ठाकुर जी का छोटा सा सिंहासन

रखा हुआ है और वह सिर नीचा किए चमड़े में डोभ लगा रहा है। महाभारत में धर्मव्याध की कथा भी इसी प्रकार की है। एक बार जब कौशिक नामक एक मुनि को मोह हुआ, तब वे ज्ञानोपदेश के लिये मिथिला में धर्मव्याध के पास आए और उन्होंने देखा कि वह दूकान पर भाँति भाँति के पशु-पक्षियों के मांस रखकर बेच रहा है; और ग्राहकों की भीड़ लगी हुई है। मुनि ने यह देखकर पूछा—"तुम इतने ज्ञानवान् होकर इस काम में क्यों लगे हो?" धर्मव्याध ने उत्तर दिया—"महाराज! यह मेरा कुलधर्म है, यह मेरा लौकिक कर्त्तव्य है; इसे मैं नहीं छोड़ सकता। मनुष्य को अपने लौकिक कर्मों को पूर्ण रीति से निर्वाह करते हुए सात्विक शीलता संपादन करनी चाहिए। मैं अपने व्यवसाय में लगा रहता हूँ और इस बात का प्रयत्न करता हूँ कि झूठ न बोलूँ, अन्याय न करूँ, सन्मार्ग पर चलूँ।" इँगलैंड में मिलर नाम का एक प्रसिद्ध पुरुष हो गया है जो संगतराश का काम करता था। कभी कभी वह जाड़े के दिनों में ठंडी हवा के झोंके खाता हुआ घुटने घुटने पानी में खड़े होकर अपनी टाँकी चलाता, पर उसके मुँह से आह न निकलती। धीरे धीरे वह अपने काम में इतना निपुण हो गया कि उसके साथी उसके गुण को देख दाँतों में उँगली दबाते। अपने काम से जो अवकाश का समय मिलता, उसे वह आत्मोन्नति में लगाता। उसने अपने बहुत से साथियों को सम्मिलित करके

एक समाज खोला जिसकी ओर से हाथ से लिखे हुए पत्र संपादित होते, जिनमें अच्छे अच्छे निबंध रहते थे। उसमें दोनों पुरुषों के लक्षण थे जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है। वह अपनी जीविका के लिये भी भरपूर मिहनत करता था और आत्मोन्नति के लिये भी। जितना सुखी वह था, उतने वे लोग कभी नहीं हो सकते जो किसी काम को अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। उसने अपने एक मित्र को एक बार लिखा था—"थोड़ी देर के लिये यहाँ आकर देख जाओ कि कैसे स्थान में मनुष्य सुखी रह सकता है। छाजन के छेदों में से, जो सुंदर झिलमिलियों का काम देते हैं, धूप छन छन-कर आती है। कोठरी में दो खिड़कियाँ हैं जिनमें से एक में सादा चौखट लगा हुआ है और एक में घास-फूस पत्थर भरा हुआ है। एक कोने में एक गड्ढे में आग रखी है जिसके ऊपर भोजन पकाने का बरतन लटक रहा है। धूआँ छत के छेदों से और खिड़कियों की राह से निकल रहा है। अनाज का बोरा खूँटो पर लटकाया हुआ है, जहाँ चूहे नहीं पहुँच सकते। हम लोगों के सामान का क्या कहना है! पत्थर की दो मोटी पटियाँ बैठने के लिये मजबूत से मज-बूत कुरसियों का काम दे रही हैं। बिस्तर भी अपने ढँग का निराला ही है। यह पुराने किवाड़ों पर पयाल बिछाकर बनाया गया है। बरतन भी एक बटलोही और एक काठ की कठवत के सिवा और कुछ नहीं है। आटे, दाल, लकड़ी

सबका खर्च मिलाकर आठ आने रोज से अधिक नहीं है। संसार का सुख चाहे लोग जहाँ समझें, पर मैं यहाँ पूरे सुख से दिन बिताता हूँ।"

अपने काम में संतुष्ट रहने ही के गुण के कारण और देशों के लोग, जो सच्चो मिहनत में कोई शर्म नहीं समझते, हिंदुस्तानियों की अपेक्षा बहुत जल्दी बढ़ते हैं। जब कि एक मध्यम श्रेणी का हिंदुस्तानी नवयुवक इस आसरे में खड़ा ताकता रहता है कि कोई ऐसा काम मिले तो करूँ जिससे समाज में तथा अपने मेल के लोगों में मेरी हेठी न हो, दूसरे देश का आदमी जो काम उसके सामने आता है, उसे कर चलता है और अच्छी तरह से करता है; और इस प्रकार क्रमश: एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ता हुआ, संसार का अनुभव और जानकारी प्राप्त करता हुआ, अपने को बड़े बड़े कामों के योग्य बना लेता है। वह बराबर बढ़ता चला जाता है और हिंदुस्तानी खड़ा मुँह ताकता रहता है। दूसरे देश का आदमी यदि आवश्यकता पड़ती है तो छोटे से छोटे काम कर लेता है और इस बात की शर्म नहीं करता कि लोग उसे उस काम को करते देख क्या कहेंगे। वह कुछ करने की अपेक्षा कुछ न करना अधिक लज्जा की बात समझता है। जो कुछ वह करता है, उसे अच्छी तरह लिप्त होकर जी-जान से करता है और उसे अपनी शान के खिलाफ नहीं समझता। हिंदुस्तानियों में अपनी शान बनाए रखने का रोग बड़ा भारी है। इनमें से बहुतेरे लोग

चाहे भूखों मरेंगे, पर ऐसा काम न करेंगे जिसमें वे अपनी हेठी समझते हैं। वे कहेंगे—'भूखा सिंह कहीं घास खाता है ?' बहुत से लोग ऐसे हैं जो यदि सौदागरी करें, जिल्दबंदी करें, घड़ी-साजी करें तो बहुत अच्छा काम कर सकते हैं और बहुत कुछ संतोष और सुख प्राप्त कर सकते हैं। पर वे १०) या १५) की मुहर्रिरी को बड़ी भारी इज्जत समझते हैं और झट उस गुलामी के लिये मुँह के बल गिरते हैं। इस प्रकार वे तन और मन से पूरे दास हो जाते हैं; क्योंकि चिट्ठियों की नकल करते करते और अंकों को जोड़ते जोड़ते उनकी विचार-शक्ति क्षीण हो जाती है और उनके अंत:करण में जो प्रतिभा वा शुद्धता रहती है, सब निकल जाती है। मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि इस देश के लोग अपनी आँखों से और देशों को व्यापार और कारीगरी द्वारा बढ़ते देखकर भी किस प्रकार उद्योग और धंधों को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं! कोई कारण नहीं कि कचहरी का एक मुचहूँ, मुहर्रिर वा क्लार्क अपने को एक चलते-पुरजे कारीगर से बढ़कर समझे। यदि सच पूछिए तो एक कारीगर का काम एक मुहर्रिर के काम से अधिक विचार और बुद्धि का है। हाथों में स्याही पोतना बारीकी के साथ टाँकी चलाने से क्यों बढ़कर प्रतिष्ठित समझा जाय ? लोग कह सकते हैं कि एक मुहर्रिर का उठना बैठना जरा और तरह के लोगों के साथ होगा। पर ये और तरह के लोग अधिकांश कैसे होते हैं ? छोटे छोटे नए मुहर्रिरों को

कैसे साथी मिलेंगे? वे ही न जो बैठकर हा हा ठी ठी करते हैं, ताश खेलते हैं और बाजारों में मुजरे सुनते फिरते हैं? यदि वे ऐसे ही हैं और उनका आनंद इसी प्रकार का है, तो वे बहुत ही ओछे विचार और निकृष्ट बुद्धि के हैं। पर यदि आप बड़े बड़े कारखानों और कार्यालयों में जाकर देखिए तो आपको गुण में, अनुभव में, सचाई में, ईमानदारी में, उनसे बढ़ चढ़कर लोग मिलेंगे जो नजारत के दफ्तरों और वकीलों के डेरों पर मिलते हैं। अपने अपने कामों में लगे हुए उन गुणी पुरुषों के विचार कहीं ऊँचे होंगे, उनमें आत्ममर्यादा का भाव कहीं अधिक होगा।

अस्तु; मैं अपने नवयुवक पाठकों को यह सम्मति देता हूँ कि जो काम उनके सामने आवे उसे वे करें, यदि उन्हें इस बात का निश्चय है कि वे उसे अच्छी तरह से कर सकेंगे। चाहे जो काम हो, वे अपने अध्यवसाय और गुण के बल से उसे उच्च और प्रतिष्ठित करके दिखला सकते हैं। एक बार किसी सरदार का कोई संबंधी हत्या के अपराध में पकड़ा गया। सरदार ने बादशाह से जाकर कहा—"यदि उसे फाँसी होगी तो हमारे कुल के लिये अप्रतिष्ठा की बात होगी।" बादशाह ने उत्तर दिया—"अप्रतिष्ठा की बात अपराध है, दंड नहीं।" अतः यह बात निश्चय समझो कि किसी काम में अप्रतिष्ठा नहीं होती; बल्कि जिस ढंग वा भाव से वह किया जाता है, उससे अप्रतिष्ठा होती है। दूकानदारी, मुहर्रिरी,

कारीगरी—कोई काम हो—तुम अपनी सादी रहन और उच्च विचार से अपने पेशे को प्रतिष्ठित बना सकते हो। तुम उस काम को अपना काम समझकर प्रसन्नतापूर्वक उत्साह के साथ किए चलो, इस बात की परवाह न करो कि दुनिया उसे कैसा समझती है। परवाह तुम केवल इस बात की रक्खो कि तुम अपना कर्तव्य भली भाँति कर रहे हो या नहीं। इस रीति से आत्मा में शांति और संतोष स्थापित करते हुए और चुपचाप अपनी जानकारी बढ़ाते हुए तुम अपने को निरंतर अधिक योग्य बनाते रहो; और जब दूसरे उच्च पथ पर बढ़ने का अवसर आवे, तब चट उस पर हो जाओ।

तुम्हारे लिये एक और अच्छी बात यह होगी कि तुम अपने व्यवहार और काम काज में भद्रता का भाव लाओ, वह शिष्टता और विनय दिखलाओ जो तुमने घर में और समाज में रहकर सीखी है। यदि सब लोग मिलकर आपस के रगड़े झगड़े मिटाकर शांति के मार्ग का अवलंबन करें और उसके कंटकों को दूर करें तो जीवन का व्यापार कितना सुगम हो जाय! यदि कार्य में लगे हुए सब लोग मृदुलता के मंत्र का प्रयोग करें तो वह कार्य बड़ी सुगमता और बड़े आनंद के साथ हो। क्लार्क वा कारीगर होकर भी मनुष्य भलामानुस हो सकता है और अपने साथियों, मालिकों तथा उन सब लोगों के साथ जिनसे काम पड़ता है, उस मृदुलता का व्यवहार कर सकता है जो चित्त के उत्तम संस्कार और हृदय की उदा-

रता से उत्पन्न होता है। एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने अपने पुत्र को शिक्षा देते समय मृदुलता का लक्षण "छोटी मोटी बातों में उदारता अर्थात् जीवन के नित्य प्रति के छोटे मोटे व्यापारों में दूसरे का ध्यान पहले और अपना पीछे रखना" ही बतलाया है। "यही मृदुलता है जो युवा पुरुष के जीवन में उसके नित्य प्रति के व्यवहार में एक नए आनंद का संचार करती है। क्या दफ़्तर में, क्या कारखाने में, उसके दृष्टांत का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है और ऐसे बहुत से झगड़े बखेड़े जिनमें निर्बल लोगों को सबल लोगों से हानि पहुँच जाया करती है, नहीं उठने पाते। सच्ची मृदुलता उन लोगों की छोटी मोटी आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने में है जो हमारे साथ हैं। यह बात अभ्यास से आती है। लंबे चौड़े सलाम करना, अदब कायदे बर्तना, हाँ जी, हाँ जी करना मृदुलता नहीं है। मृदुलता सरल, स्वाभाविक, और पुरुषार्थ-पूर्ण होनी चाहिए। ये बातें तभी आ सकती हैं जब हमारा हृदय उदार हो और हम निरंतर उनके प्रति कोमल चेष्टा प्रदर्शित करते रहने का उद्योग करें जिनके साथ हमें बातचीत करना वा रहना पड़ता है।

भद्रता एक ऐसा गुण है जिससे सब लोग मोहित हो जाते हैं। मैं एक बार एक सरकारी दफ़्तर में था जहाँ एक दीन सुकुमार स्त्री किसी काम के लिये खड़ी थी। वह बहुत दूर से चलकर आई थी और उसकी आकृति से जान पड़ता था कि वह दरिद्रता के घोर दुःख से दबी हुई है। वह थकी माँदी

और मुरझाई हुई बड़ी देर से आसरे में खड़ी थी और क्लार्क लोग आराम से टाँग फैलाए कुरसियों पर बैठे थे। जैसा कि सब जगह के क्लार्कों का दस्तूर है, उन्हें उसके काम को झट-पट भुगता देने की कुछ भी परवा न थी। वहाँ कोई चौकी वा तिपाई भी न थी जिस पर वह बैठ जाती। मैं अपने मन में उसकी सहायता करने का विचार कर ही रहा था कि इतने में एक नव-युवक क्लार्क कुछ सकुचाता हुआ उठा और उसने अपनी कुरसी को अँगोठी के पास ले जाकर उस स्त्री को बैठने के लिये कहा। इतना करके फिर वह अपनी जगह पर चला आया। मैंने देखा कि उसके साथी उसके इस कार्य को मन ही मन सराह रहे हैं। यद्यपि उनमें परोपकार में तत्पर होने की बुद्धि नहीं थी, पर परोपकार को सराहने की बुद्धि थी। इसके उपरांत मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन सभों ने जो पहले उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे, चटपट उसका काम कर दिया। सज्जनता का ऐसा प्रभाव पड़ता है! मैंने संवादपत्रों में पढ़ा था कि एक बार एक स्टेशन-मास्टर को एक वृद्धा स्त्री से अचानक बहुत सी संपत्ति प्राप्त हुई थी। उस स्टेशनमास्टर ने उस स्त्री के साथ कभी कुछ मृदुलता का व्यवहार किया था। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि मेरे नवयुवक पाठक इस प्रकार के पुरस्कार के लाभ से इस गुण का संपादन करें। उनके लिये सबसे बढ़कर पुरस्कार तो वह सच्चा आनंद है जो शिष्टता के प्रत्येक व्यवहार से प्राप्त

होता है, जो दया का आचरण करने और कृपापूर्ण वचन बोलने से प्राप्त होता है। मैं एमर्सन की भाँति यह तो नहीं कहता कि मैं अशिष्ट और बेढंगी चाल ढाल के आदमी के साथ बैठने की अपेक्षा ऐसे आदमी के साथ मजे में बैठ सकता हूँ जिसमें सत्य और शालमर्यादा का भाव न हो, पर इतना अवश्य कहता हूँ कि शिष्ट और सभ्य व्यवहार से सत्य और भी चमक उठता है। सभ्य और असभ्य आचरण की परख यह बताई गई है कि एक से मेलजोल बढ़ता है और दूसरे से घटता है। मेलजोल से कार्यनिर्वाह सुगम होता है। इससे प्रत्येक स्थान पर भद्रता कितनी आवश्यक है, यह समझने की बात है।

तीसरा प्रकरण

आत्म-बल

विद्वानों का यह कथन बहुत ठीक है कि नम्रता ही, स्वतंत्रता की धात्री वा माता है। लोग भ्रमवश अहंकार वृत्ति को उसकी माता समझ बैठते हैं, पर वह उसकी सौतेली माता है जो उसका सत्यानाश करती है। चाहे यह संबंध ठीक हो या न हो, पर इस बात को सब लोग मानते हैं कि आत्म-संस्कार के लिये थोड़ी बहुत मानसिक स्वतंत्रता परम आवश्यक है—चाहे उस स्वतंत्रता में अभिमान और नम्रता दोनों का मेल हो और चाहे वह नम्रता ही से उत्पन्न हो। यह बात तो निश्चित है कि जो मनुष्य मर्य्यादापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसके लिये वह गुण अनिवार्य्य है, जिससे आत्मनिर्भरता आती है और जिससे अपने पैरों के बल खड़ा होना आता है। युवा पुरुष को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह बहुत कम बातें जानता है, अपने ही आदर्श से वह बहुत नीचे है, और उसकी आकांक्षाएँ उसकी योग्यता से कहीं बढ़ी हुई हैं। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने बड़ों का सम्मान करे, छोटों और बराबरवालों से कोमलता का व्यवहार करे। ये बातें आत्म-मर्य्यादा के लिये आवश्यक हैं। यह सारा संसार, जो कुछ हम हैं और जो कुछ

हमारा है—हमारा शरीर, हमारी आत्मा, हमारे कर्म, हमारे भोग, हमारी घर की और बाहर की दशा, हमारे बहुत से अवगुण और थोड़े से गुण—सब इसी बात की आवश्यकता प्रकट करते हैं कि हमें अपनी आत्मा को नम्र रखना चाहिए। नम्रता से मेरा अभिप्राय दब्बूपन से नहीं है जिसके कारण बात बात में मनुष्य दूसरों का मुँह ताकता रहता है, जिससे उसका संकल्प क्षीण और उसकी प्रज्ञा मंद हो जाती है, जिसके कारण वह आगे बढ़ने के समय भी पीछे रहता है और अवसर पड़ने पर चटपट किसी बात का निर्णय नहीं कर सकता। मनुष्य का बेड़ा अपने ही हाथ में है, उसे चाहे वह जिधर लगावे। सच्ची आत्मा वही है जो प्रत्येक दशा में, प्रत्येक स्थिति के बीच, अपनी राह आप निकालती है।

अब तुम्हें क्या करना चाहिए, इसका ठीक ठीक उत्तर तुम्हीं को देना होगा, दूसरा कोई नहीं दे सकता। कैसा भी विश्वासपात्र मित्र हो, तुम्हारे इस काम को वह अपने ऊपर नहीं ले सकता। हम अनुभवी लोगों की बातों को आदर के साथ सुनें, बुद्धिमानों की सलाह को कृतज्ञतापूर्वक मानें, पर इस बात को निश्चित समझकर कि हमारे कामों ही से हमारी रक्षा वा हमारा पतन होगा, हमें अपने विचार और निर्णय की स्वतंत्रता को दृढ़तापूर्वक बनाए रखना चाहिए। जिस युवा पुरुष की दृष्टि सदा नीची रहती है, उसका सिर कभी ऊपर न होगा। नीची दृष्टि रखने से यद्यपि हम रास्ते पर रहेंगे,

पर इस बात को न देखेंगे कि वह रास्ता कहाँ ले जाता है। चित्त की स्वतंत्रता का मतलब चेष्टा की कठोरता वा प्रकृति की उग्रता नहीं है। अपने व्यवहार में कोमल रहो और अपने उद्देश्यों को उच्च रखो; इस प्रकार नम्र और उच्चाशय दोनों बनो। अपने मन को कभी मरा हुआ न रखो। जितना ही जो मनुष्य अपना लक्ष्य ऊपर रखता है, उतना ही उसका तीर ऊपर जाता है।

संसार में ऐसे ऐसे दृढ़चित्त पुरुष हो गए हैं जिन्होंने मरते दम तक सत्य की टेक नहीं छोड़ी, अपनी आत्मा के विरुद्ध कोई कार्य्य नहीं किया। राजा हरिश्चंद्र के ऊपर इतनी इतनी विपत्तियाँ आईं, पर उन्होंने अपना सत्य नहीं छोड़ा। उनकी प्रतिज्ञा यही रही—

चंद्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

महाराणा प्रतापसिंह जंगल जंगल मारे मारे फिरते थे, अपनी स्त्री और बच्चों को भूख से पीड़ित देखते थे, पर उन्होंने उन लोगों की बात न मानी जिन्होंने उन्हें अधीनतापूर्वक संधि करने की सम्मति दी; क्योंकि वे जानते थे कि अपनी मर्यादा की चिंता जितनी अपने को हो सकती है, उतनी दूसरों को नहीं। हकीकतराय नामक वीर बालक को देखो जिसने जल्लाद की चमकती तलवार गरदन पर देखकर भी काजी के सामने अपना धर्म्म परित्याग करना स्वीकार नहीं किया।

सिक्ख गुरु गोविंदसिंह के दोनों लड़के जीते जी दीवार में चुन दिए गए, पर वे अपना धर्म्म छोड़कर मुसलमान होने के नाम पर 'नहीं' 'नहीं' करते रहे। एक बार एक रोमन राजनीतिज्ञ बलवाइयों के हाथ में पड़ गया। बलवाइयों ने उससे व्यंगपूर्वक पूछा—"अब तेरा किला कहाँ है?" उसने हृदय पर हाथ रखकर उत्तर दिया—"यहाँ।" ज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये यही बड़ा भारी गढ़ है। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि जो युवा पुरुष सब बातों में दूसरों का सहारा चाहते हैं, जो सदा एक न एक नया अगुआ ढूँढ़ा करते हैं और उसके अनुयायी बना करते हैं, वे आत्मसंस्कार के कार्य में उन्नति नहीं कर सकते। उन्हें स्वयं विचार करना, अपनी सम्मति आप स्थिर करना, दूसरों की उचित बातों का मूल्य समझते हुए भी उनका अंधभक्त न होना सीखना चाहिए। तुलसीदासजी को लोक में जो इतनी सर्वप्रियता और कीर्त्ति प्राप्त हुई, उनका दीर्घ जीवन जो इतना महत्त्वमय और शांतिमय रहा; सब इसी मानसिक स्वतंत्रता, निर्द्वंद्वता और आत्मनिर्भरता के कारण। वहीं उनके समकालीन केशवदास को देखिए जो जीवन भर विलासी राजाओं के हाथ की कठपुतली बने रहे, जिन्होंने आत्म-स्वातंत्र्य की ओर कम ध्यान दिया और अंत में आप अपनी बुरी गति की। एक इतिहासकार कहता है—"प्रत्येक मनुष्य का भाग्य उसके हाथ में है। प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन-निर्वाह श्रेष्ठ रीति से कर सकता है। यही मैंने किया है और

यदि अवसर मिले तो फिर यही करूँ।" इसे चाहे स्वतंत्रता कहो, चाहे आत्मनिर्भरता कहो, चाहे स्वावलंबन कहो, जो कुछ कहो, यह वही भाव है जिससे मनुष्य और दास में भेद जान पड़ता है; यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से राम लक्ष्मण ने घर से निकल बड़े पराक्रमी वीरों पर विजय प्राप्त की; यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से हनुमान् ने अकेले सीता की खोज की; यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से कोलंबस ने अमेरिका इतना बड़ा महाद्वीप ढूँढ़ निकाला। चित्त की इसी वृत्ति के बल पर सूरदास ने अकबर के बुलाने पर फतहपुर सीकरी जाने से इनकार किया था और कहा था—

"कहा मोको सीकरी सों काम?"

इसी चित्त-वृत्ति के बल से मनुष्य इसलिये परिश्रम के साथ दिन काटता और दरिद्रता के दुःख को झेलता है जिसमें उसे ज्ञान के अमित भांडार में से कुछ थोड़ा बहुत मिल जाय। इसी चित्तवृत्ति के प्रभाव से हम प्रलोभनों का निवारण करके उन्हें पददलित करते हैं, कुमंत्रणाओं का तिरस्कार करते हैं और शुद्ध चरित्र के लोगों से प्रेम और उनकी रक्षा करते हैं। इसी चित्तवृत्ति के प्रभाव से युवा पुरुष कार्यालयों में शांत और सच्चे रह सकते हैं और उन लोगों की बातों में नहीं आ सकते जो आप अपनी मर्य्यादा खोकर दूसरों को भी अपने साथ बुराई के गड्ढे में गिराना चाहते हैं। इसी चित्तवृत्ति के प्रताप से बड़े बड़े लोग ऐसे समयों में भी, जब कि उनके और साथियों

ने उनका साथ छोड़ दिया है, अपने महत्कार्य्यों में अग्रसर होते गये हैं और यह सिद्ध करने में समर्थ हुए हैं कि निपुण, उत्साही और परिश्रमी पुरुषों के लिये कोई अड़चन ऐसी नहीं जो कहे कि 'बस यहीं तक, और आगे न बढ़ना'। इसी चित्तवृत्ति की दृढ़ता के सहारे दरिद्र लोग दरिद्रता से और अपढ़ लोग अज्ञता से निकलकर उन्नत हुए हैं तथा उद्योगी और अध्यवसायी लोगां ने अपनी समृद्धि का मार्ग निकाला है। इसी चित्तवृत्ति के अवलंबन से पुरुषसिंहों को यह कहने की क्षमता हुई है कि "मैं राह ढूँढूँगा या राह निकालूँगा"। यही चित्तवृत्ति थी जिसकी उत्तेजना से शिवाजी ने थोड़े से वीर मरहठे सिपाहियों को लेकर औरंगजेब की बड़ी भारी सेना पर छापा मारा और उसे तितर बितर कर दिया। यही चित्तवृत्ति थी जिसके सहारे से एकलव्य बिना किसी गुरु वा संगी साथी के जंगल के बीच निशाने पर तीर पर तीर चलाता रहा और अंत में एक बड़ा धनुर्द्धर हुआ। यही चित्तवृत्ति है जो मनुष्य को सामान्य जनों से उच्च बनाती है, उसके जीवन को सार्थक और उद्देश्यपूर्ण करती है तथा उसे उत्तम संस्कारों को ग्रहण करने योग्य बनाती है। जिस मनुष्य की बुद्धि और चतुराई उसके दृढ़ हृदय ही के आश्रय पर स्थित रहती है, वह जीवन और कर्मक्षेत्र में स्वयं भी श्रेष्ठ और उत्तम रहता है और दूसरों को भी श्रेष्ठ और उत्तम बनाता है। प्रसिद्ध उपन्यासकार स्काट एक बार ऋण के बोझ से बिलकुल दब गया। उसके

मित्रों ने उसकी सहायता करनी चाही, पर उसने यह बात स्वीकार नहीं की और स्वयं अपनी प्रतिभा ही का सहारा लेकर अनेक उपन्यास थोड़े ही दिनों के बीच लिखकर लाखों रुपये का ऋण उसने सिर पर से उतार दिया।

घर में, वन में, संपद् में, विपद् में, मनुष्य को अपने अंतःकरण ही का सहारा रहता है! अंतःकरण का बल बड़ा भारी बल है जो भौतिक अवस्थाओं की कुछ भी परवा नहीं करता। जो युवा पुरुष अपना काम अच्छी तरह और ईमानदारी से करता है, जो अपने चित्त में उत्तम विचारों को धारण करता है, जिसमें सत्य और सौंदर्य्य के आदर्श का भाव जाग्रत रहता है, जो भरसक मनुष्य जाति के नाना कष्टों को दूर करने का यत्न करता है, जो ज्ञान के प्रकाश के लिये निरंतर दृढ़ उद्योग करता है, जो संसार के भोग-विलास की प्रेरणा का तिरस्कार करता है, जो उपस्थित वस्तुओं के गुण-दोष की जाँच करने में बेधड़क रहता है, जिसका हृदय अबलाओं के प्रति कोमल रहता है, जो अपनी बुद्धि और जानकारी बढ़ाने का अखंड प्रयत्न करता है, जो परमेश्वर को सर्वत्र उपस्थित मानता हुआ अपने तथा अपने बंधुबांधवों के कल्याण के लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है, उसी को मैं स्वतंत्र कहूँगा। वह जीवन-यात्रा में बराबर बढ़ता जायगा, सहारे के लिये किसी का हाथ न पकड़ेगा और टेकने के लिये किसी की लाठी मँगनी न माँगेगा। मनुष्य को तीन वस्तुओं का अध्ययन रखना चाहिए। ईश्वर

को प्रत्यक्ष करने के लिये उसे सृष्टि का अध्ययन करना चाहिए, अपने आपको पहचानने के लिये अपनी आत्मा का अध्ययन करना चाहिए, और अपने निकटवर्ती लोगों से स्नेह करने के लिये धर्म्मग्रंथों का पठन पाठन करना चाहिए। इसी प्रकार के अध्ययन से स्वतंत्रता के उच्च भाव की वृद्धि होगी और आशा, विश्वास तथा आश्वासन की प्राप्ति होगी।

अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना तो युवा पुरुष के लिये अच्छी बात है ही, पर उसे प्रत्येक दशा में वीरव्रती होना चाहिए। उसे अन्याय का विरोध और अत्याचार का अवरोध करना चाहिए, उसे दूसरों का ध्यान पहले और अपना पीछे रखना चाहिए, उसे ऐसे स्थलों पर वीरता दिखानी चाहिए जहाँ शरीर की वा धर्म-बुद्धि की हानि का भय हो, उसे आत्मोत्सर्ग का भाव धारण करना चाहिए। मैंने कहीं पर दो राजपूत वीरों का वृत्तांत पढ़ा था जिसका मेरे चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। इन दोनों राजपूतों में बहुत दिनों का वैर चला आता था। एक दिन की बात है कि इनमें से एक क्रोध के आवेश में दूसरे के प्राण लेने की इच्छा से नगर में निकला। वह थोड़ी दूर गया था कि उसने देखा कि लोग घबराहट के साथ सड़क छोड़कर इधर उधर भागे जा रहे हैं। देखते देखते सड़क मनुष्यों से खाली हो गई और सामने से एक मतवाला हाथी आता दिखाई पड़ा। राजपूत एक कोने में छिप रहा। हाथी क्रोध से सूँड़ फटकारता चला आता था। संयोगवश

भागनेवालों में से किसी का एक बालक सड़क पर छूट गया था। हाथी उसके बिल्कुल पास पहुँच गया, और उसको चीरकर फेंकना ही चाहता था कि चट किसी ओर से एक मनुष्य फुरती के साथ दौड़ा आया और उस लड़के को गोद में लेकर किनारे निकल गया। जब हाथी दूर निकल गया, तब लोग 'धन्य धन्य' कहते हुए उसके पास इकट्ठे हुए। राजपूत भी कोने में से निकलकर वहाँ पहुँचा। निकट जाने पर उसे विदित हुआ कि वह मनुष्य जिसने उस बालक की इस वीरता के साथ प्राण-रक्षा की थी, वही दूसरा राजपूत था जिसके वध की इच्छा से वह निकला था। यह देखते ही उसकी आँखों में आसू आ गया और वह उसके गले से लिपटकर कहने लगा—"भाई! मैं आज तुम्हारे प्राण लेने के लिये निकला था; पर तुम्हें इस वीरता के साथ जीवन-दान देते देख मेरी आँखें खुल गईं। तुम्हारे ऐसे धर्मवीर के प्रति दुर्भाव रखना अधर्म है।" मेरी समझ में तो इस राजपूत की वीरता उन राजपूतों से कहीं बढ़ चढ़कर थी जो रणक्षेत्र में गर्व के साथ शत्रुओं के हृदय में चमचमाते हुए भाले भोंकते हैं। दूसरों की रक्षा के लिये अपनी रक्षा का ध्यान न रखने का जो महत्त्वपूर्ण दृष्टांत इस राजपूत ने दिखलाया, वही धर्मवीरता का चरम लक्षण है। असहाया सीताजी को जब दुष्ट रावण रथ पर चढ़ाकर लिये जा रहा था, तब जटायु से न देखा गया। जब तक उसके शरीर में प्राण रहे, तब तक वह अन्याय का दमन करने के

लिये सीताजी को छुड़ाने के लिये लड़ता रहा। इस प्रकार के उत्कट और भयानक रूप में अपनी वीरता प्रकट करने का अवसर तो शायद हमें न मिले, पर यदि हममें उसका भाव है तो हमें उसके प्रदर्शन के बहुत से अवसर घर में, समाज में, नित्य के व्यवहार में, मिल सकते हैं।

वीरता का एक और दृष्टांत लीजिए। किसी टापू में एक बड़ी सेना उतरी थी। सेना-नायक को मालूम हुआ कि उस टापू में कुछ दिनों से घड़ियाल की तरह का एक महा भयंकर जंतु आता है जो लोगों को पकड़ पकड़कर खा जाया करता है। सेना-नायक ने उसे मारने की आज्ञा दी। बहुत से वीरों ने उसके मारने का उद्योग किया, पर वे सबके सब उसके मुँह में चले गए। अंत में सेना-नायक ने हारकर आज्ञा दी—"जाने दो, उसके मारने का प्रयत्न न करो।" सेना में एक वीर युवक था। उसे यह आज्ञा पसंद न आई; क्योंकि वह उस भीषण जंतु को, जिसने इतने मनुष्यों के प्राण लिए थे, मारकर यश और अनुग्रह प्राप्त करना चाहता था। उसने उस भीषण जंतु की एक मूर्ति बनाई, अपने दो कुत्तों को उसके पेट पर आक्रमण करना सिखाया और अपने घोड़े को उसके सामने ठहरने का अभ्यास कराया। जब वह पूरी तैयारी कर चुका, तब वह उस जंतु की कंदरा की ओर गया। उसने तुरंत अपने कुत्तों को उस पर छोड़ दिया और आप भाले से उसे मारने लगा। अंत में वह जंतु मर गया। जब यह संवाद उस

टापू में फैला, तब वहाँ के निवासी उसे बड़े आदर और धूम-धाम के साथ उसके सेना-नायक के पास ले गए। सेना-नायक उससे कुछ रुखाई के साथ मिला और त्योरी चढ़ाकर बोला—"धर्मवीर का पहला कर्त्तव्य क्या है?" उस युवक ने संकुचित और लज्जित होकर उत्तर दिया—"आज्ञा-पालन।" सेना-नायक ने उसकी वीरता का सम्मान करते हुए कहा—"तुमने मेरी आज्ञा भंग करके उससे बढ़कर शत्रु खड़ा किया, जिसे तुमने मारा। तुमने नियमभंग और व्यवस्थाविरोध का सूत्रपात किया।"

अस्तु; यह समझ रखना चाहिए कि वीरत्व के लिये स्वार्थ-त्याग के अतिरिक्त आज्ञापालन की भी आवश्यकता है। सब गुणों में से यही एक ऐसा गुण है जिसका संपादन करना नवयुवकों को बहुत जहर लगता है। हम लोगों में मनमानी करने की इच्छा स्वाभाविक होती है और हम समझते हैं कि जो हम करते हैं, वह सबसे अच्छा है। जहाँ हमने थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त की कि हम अपने को और लोगों से बढ़-कर समझने लगते हैं और अभिमान के मद में चूर इतराए फिरते हैं। हमारा यह मोह बहुत दिनों तक प्रायः नहीं रहता; और जिस समय यह दूर होता है, हमें अपने ऊपर बड़ा दुःख होता है। अतः हमें पहले ही से यह समझ रखना चाहिए कि जो फूल तोड़ना चाहता है, उसे पहले काँटे मिलते हैं; जो हुक्म चलाना चाहता है, उसे पहले हुक्म मानने का

अभ्यास करना पड़ता है। बड़ों के आदेश का जो बहुत से नवयुवक विरोध करते हैं, उसका आधार बहुत तुच्छ होता है और अंत में उन्हें हार माननी पड़ती है। जैसे कि नीति और धर्म में वैसे ही विज्ञान और कला-कौशल में बुद्धिमानी की बात यही है कि पहले हम धीर, जिज्ञासु और विनीत विद्यार्थी के रूप में संतोष के साथ काम करें, फिर ज्ञान और अनुभव का संचय करके निश्चित बातों में शंका करने तथा ठीक न जँचने-वाले सिद्धांतों का तिरस्कार करने का अधिकार प्राप्त करें। जिस स्वाधीनता का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उससे इस उचित और युक्तिसंगत अधीनता का कुछ विरोध नहीं है। जो सिपाही आज्ञा-भंग करता है उसे लोग स्वाधीन नहीं कहते, बागी कहते हैं। प्रतिष्ठित नियम और मर्य्यादा का पालन करने ही से किसी मनुष्य की स्वाधीनता की, उसकी इच्छा और प्रयत्न की स्वतंत्रता की, हानि नहीं होती।

साहस वीरता का एक प्रधान अंग है। साहस से मेरा अभिप्राय केवल उस शारीरिक बल वा बहादुरी से नहीं है जो बहुतों को जन्म से प्राप्त होती है; बल्कि उस उच्च और शुद्ध वृत्ति से है जिसे नैतिक साहस वा धर्मबल कहते हैं और जो हृदय की पवित्र उच्चता से संबंध रखती है। नित्य के व्यवहार में हमारे इस साहस की परीक्षा बराबर होती रहती है, समय पड़ने पर लोगों को सोहनेवाली बात का कहना जितना सुगम होता है, उतना सत्य बात का कहना नहीं। इसी से एक नीतिज्ञ

ने यहाँ तक कह डाला है कि "सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्"। इसी प्रकार प्रलोभन में आ जाना जितना सुगम होता है, उतना उसका अवरोध करना नहीं। हम मौका पाने पर झट अपने पड़ोसी की हानि करके स्वयं लाभ उठाने का कारण ढूँढ़ निकालते हैं और लोगों से कहते फिरते हैं कि वह अकर्मण्य है, वह अपना कामकाज सँभालना नहीं जानता, उसे अपना हानि-लाभ नहीं सूझता। अपने लोभ और अन्याय के लिये हम अपने को कभी नहीं धिक्कारते। भरत के ऐसे इस संसार में सब नहीं होते कि राजधानी से दूर केवल इसलिये जाकर पड़े रहें जिसमें बड़े भाई के लिये राजसिंहासन खाली रहे। कोई कार्य उचित है, केवल इसी निमित्त उसके करने का धर्मबल वा साहस इस संसार में बहुत कम देखा जाता है। दुःख में शक्ति, क्षोभ में आत्मनिग्रह, विपत्ति में धैर्य, संपद् में मिताचार, धर्मबल के लक्षण हैं। 'बाबू तिरबेनीसहाय देखेंगे तो क्या कहेंगे?' 'दुनिया देखेगी तो क्या कहेगी?' इस बात का भय हमारे हाथों को दुर्बल करके अत्याचार-पीड़ित प्राणियों की रक्षा के लिये, सत्य और औदार्य के पालन के लिये, असत्य और विडंबना के विनाश के लिये उठने नहीं देता। 'अमुक महाशय देखेंगे तो क्या कहेंगे' इस भय से न जाने कितने ऐसे नव-युवकों का जीवन सत्यानाश हो जाता है जिनमें झूठे घमंडियों के बीच अपना निराला मार्ग निकालने की आत्मिक क्षमता नहीं होती। बुद्धिमान् और

अनुभवी लोगों की बात न मानना मूर्खता है; पर दुनिया के हँसने और भला बुरा कहने की बराबर चिंता करना उससे भी बढ़कर मूर्खता है। लोगों का बहुत सा गुण और चमत्कार थोड़ी सी उचित आत्मिक दृढ़ता के अभाव से यों ही नष्ट हो जाता है। नित्य बहुत से ऐसे लोग चिता पर चढ़ते हैं जो इस कारण हीन दशा में पड़े रहे कि उनकी भीरुता ने उन्हें कोई कार्य आरंभ ही नहीं करने दिया। यदि वे लोग आरंभ करने पाते तो बहुत संभव था कि वे सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए बहुत कुछ नाम और यश कमाते तथा अपने उद्योगों से अपना और दूसरों का बहुत कुछ भला करते। बात यह है कि इस संसार में किसी करने योग्य काम को करने में हमें कठिनाई और बाधा देख ठिठककर पीछे न हटना चाहिए, बल्कि जहाँ तक हो सके, कूदकर आगे बढ़ना चाहिए। इसी आत्मिक दृढ़ता के बल से जो कठिनाई और विफलता के समय दूनी हो जाती है, संसार में मनुष्य के ज्ञान और सुख की वृद्धि करनेवाले सुधार हुए हैं, बड़े बड़े आविष्कार हुए हैं तथा मनुष्य जाति उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुई है; क्योंकि शुरू शुरू में प्रत्येक सुधार स्वभावत: लोगों की रुचि के प्रतिकूल होता है, उनके सुख चैन के भाव में बाधा डालता है और उनके चित्त में कठिनाई और असुविधा का खटका उत्पन्न करता है। जो सुधार पर जोर देता है, उसे चारों ओर का घोर विरोध सहते हुए, बिना किसी के कृतज्ञता-

सूचक वा उत्साहवर्द्धक वाक्य के एकांत में चुपचाप काम करना पड़ता है। जब वह अच्छी बातों का उपदेश करता है, तब लोग उस पर पत्थर फेंकते हैं।

धर्म के हेतु प्राण देनेवाले महात्माओं का इसी आत्मिक दृढ़ता का बल और अवलंब था, इसी की गुप्त प्रेरणा से वे धन और मान का तिरस्कार करने में समर्थ हुए थे। इसी आत्मिक दृढ़ता के बल से उन्होंने कारागार और अग्नि की भीषण यंत्रणा सहन की, पर उस बात का पक्ष न छोड़ा जिसे अधिकांश लोग मिथ्या और अनुचित समझते थे। समरक्षेत्र में जहाँ रणोत्साह से नस नस में रुधिर उमंगें मारता है और पास ही सहस्रों को एक ही उद्देश्य से प्रेरित देख उत्तेजना बढ़ती है, यश और कीर्त्ति प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। पर उसकी वीरता अत्यंत विकट है जो महीनों अत्याचार, घोर साँसत सहकर अपने ऐसे शत्रुओं के सम्मुख लाया जाता है जो उससे कहते हैं कि 'यदि तुम अपनी भूल को स्वीकार कर लो और अधिकारियों के मत के प्रतिकूल बात छोड़ दो, तो मुक्त कर दिए जाओ और फाँसी से बचा दिए जाओ'। दो चार अनुकूल शब्द मुँह से निकाल देने ही से उसका छुटकारा हो सकता है। यही असली परीक्षा का समय है। इसमें जो मुँह से 'आह' तक न निकालकर सब कुछ सहे, वही सच्चा वीर है। यदि इस प्रकार का उच्च और उत्कृष्ट साहस नित्य प्रति के जीवन-व्यवहार में दिखाया जाय, तो

संसार कितना सुखमय और पवित्र हो जाय ! जिसे सत्य और न्याय से प्रेम होगा, वह इस प्रकार का साहस दिखलावेगा। समाज के संस्कार के लिये जिस वस्तु की बहुत बड़ी आवश्यकता है, वह आत्मिक बल है जो बुराई की छाया तक को पास नहीं फटकने देता, जो सब प्रकार के दंभ, पाखंड और भ्रम को दूर फेंकता है, जो नम्रतापूर्वक महात्माओं के उपदेश और आदर्श पर चलने की सामर्थ्य प्रदान करता है, जो चित्त में पवित्रता, सचाई, उदारता और भ्रातृस्नेह की स्थापना करता है। क्या इस उच्च कोटि का आत्मोत्सर्ग और आत्म-तुष्टि असंभव है ? हाँ, दुर्बलचित्त और स्वार्थियों के लिये अवश्य असंभव है, जिन्होंने लड़कपन से कभी प्रलोभनों का शासन नहीं किया, जिनका आशय सदा नीच रहा, जिन्होंने कभी उच्च उद्देश्य की भावना नहीं की, जो समाज के कहने सुनने का ही सदैव ध्यान रखते हैं, यह नहीं देखते कि उनकी आत्मा क्या कहती है, जो चिर अभ्यास के कारण संसार की तुच्छ वस्तुओं और वासनाओं से चित्त को हटाकर अपने विचारों को उन्नत करने में असमर्थ हैं। पर ऐसे लोगों के लिये असंभव नहीं है जो एक महान् लक्ष्य की ओर अपनी सारी बुद्धि और बल लगाते हुए अग्रसर हो रहे हैं। जुआरियों, शराबियों, आलसियों, लंपटों, अश्रद्धालुओं, झूठों, घमंडियों, बेईमानों और विषयासक्तों के लिये तो अवश्य असंभव है, पर ऐसे लोगों के लिये जो महात्माओं के पथ पर

चलते हैं, जो सत्य का अनुसरण करते हैं, जो प्रलोभनों का दमन करते हैं, जो ईश्वर पर भरोसा करते हुए निःशंक भाव से अपना कर्त्तव्य-पालन करते हैं, यह बात कठिन चाहे हो, पर असंभव नहीं है।

विलायत में जार्ज स्टिफेंसन नामक एक व्यक्ति ने देखा कि खान के भीतर काम करनेवालों के लिये एक लालटेन की बड़ी आवश्यकता है जिसके प्रकाश में लोग आराम के साथ काम करें। पर खानों के भीतर एक प्रकार की जहरीली हवा (गैस) होती है जिससे आग लगने का भय होता है। अतः लालटेन ऐसी होनी चाहिए थी कि जिसकी लपट से खान के भीतर की जहरीली हवा न भभके। स्टिफेंसन ने एक लालटेन तैयार की। पर उसे काम में लाने के पहले उसकी परीक्षा आवश्यक थी। पर ऐसी भयंकर परीक्षा करे कौन? अंत में अपने पुत्र और दो मित्रों को साथ लेकर स्वयं स्टिफेंसन अपनी बनाई लालटेन की परीक्षा के लिये आधी रात को खान के मुँह पर पहुँचा। चारों आदमी धीरे धीरे खान में उतरे और एक ऐसे अँधेरे गड्ढे की ओर बढ़े जहाँ बाहर की हवा बिलकुल नहीं पहुँचती थी और अत्यंत जहरीली गैस निकल रही थी। स्टिफेंसन का एक साथी उस गड्ढे को देखकर लौटा और कहने लगा कि जहाँ वहाँ जलती बत्ती पहुँचा कि गैस भभक उठेगी, सारी खान में आग लग जायगी और चारों में से एक भी जीता न बचेगा। पर स्टिफेंसन अपने संकल्प

से रत्ती भर भी विचलित न हुआ। एक हाथ में लालटेन लेकर वह बड़ी धीरता के साथ गड्ढे की ओर बढ़ा। उस समय यही जान पड़ता था कि मानो वह मृत्यु के मुख में जा रहा है; पर उसकी आकृति से किसी प्रकार की व्यग्रता नहीं झलकती थी। उस गड्ढे के पास पहुँचकर चट उसने अपनी लालटेन वहाँ रख दी और खड़ा होकर परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बत्ती भभकी, फिर झलमलाने लगी और बुझ गई। इससे यह बात भली भाँति सिद्ध हो गई कि उस लालटेन से खान में आग लगने की कोई आशंका नहीं है। यहाँ पर पाठकों के ध्यान देने की बात स्टिफेंसन का आत्मिक बल है जिसके कारण वह अकेले एक बड़े भारी उद्देश्य के साधन के लिये एक भय के स्थान में कूद पड़ा।

आर्य्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद का आत्मिक बल भी ध्यान देने योग्य है। उनका आशय जैसा उच्च था वैसा ही उनका परिश्रम भी असाधारण था। विलक्षण विवाद-पटुता और अद्‌भुत साहस के साथ उन्होंने उन बुराइयों का दिग्दर्शन कराया जो हिंदू धर्म की शक्ति का अपहरण कर रही हैं। उन्होंने पूर्ण निर्भीकता और सचाई के साथ समाज की प्रचलित विलासप्रियता और भोगाडंबर का विरोध किया। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह बहादुर स्वामीजी का बड़ा आदर सम्मान करते थे। एक दिन स्वामीजी दरबार में पहुँचे, तो क्या देखते हैं कि एक वेश्या वहाँ बैठी हुई है।

महाराणा साहब स्वामीजी को लेने के लिये उठे। पर स्वामीजी तुरंत वहाँ से उलटे पाँव यह कहते हुए फिरे—"जहाँ वेश्याओं को यह स्थान मिलता है, वहाँ एक क्षण भी ठहरना उचित नहीं। ऐसे दरबार को दूर से नमस्कार!" महाराणा साहब ने उस वेश्या को निकलवा दिया, सब कुछ किया, पर स्वामीजी फिर लौटकर न गए। उन्होंने लोभी पंडों पुरोहितों के आचरण की घोर निंदा की, उनके स्वार्थमय व्यापार का खूब भंडा फोड़ा। स्वार्थियों ने उन्हें भाँति भाँति के प्रलोभन दिखाए, बड़ी बड़ी धमकियाँ दीं, पर वे अपने पथ से विचलित न हुए। यदि वे चाहते तो लोगों की रुचि के अनुकूल चलकर, उनकी हाँ में हाँ मिलाकर, बड़े चैन के साथ मठधारी महंतों की तरह दिन बिताते; पर उन्होंने इस प्रकार बुराइयों पर परदा डालना, सत्य का अपघात करना, उचित नहीं समझा। जिन लोगों के हित के लिये वे प्रयत्न करते थे, उन्हीं से अपनी कटूक्तियों के कारण गालियाँ खाकर, अनेक प्रकार के अपमान सहकर, अंत में उन्होंने वह विष का घूँट पीया जिसे उनके खरेपन ने उनके लिये प्रस्तुत किया था। स्वामी दयानंद की विद्वत्ता आदि के विषय में चाहे जो कुछ कहा जाय, पर उनका उद्देश्य उच्च और दृढ़ था, उनमें चरित्रबल पूरा था। स्वामी दयानंद ने जो जो कठिनाइयाँ सहीं, उन्हें समाज ने देखा, उनके बहुत से पक्षपाती हुए तथा साधुवाद देने के लिये बहुत से श्रद्धालु प्रस्तुत हुए। जो कुछ उन्होंने

किया, वह संसार और समाज के सामने था, इससे उन्हें सहारा देनेवाले और उनसे सहानुभूति रखनेवाले बहुत से मिल गए। पर इस संसार-कानन में ऐसे बहुत से साधु महात्मा पड़े हैं जिन्होंने अपने को कभी किसी प्रकार प्रसिद्ध नहीं किया, जिन्होंने अपनी वाणी का विकास कभी नहीं किया, जिन्होंने अपनी एकांतता परित्याग करके कभी अपनी चर्चा लोक में नहीं फैलाई, जिनका देवतुल्य श्रेष्ठ जीवन सदा अंतर्व्याप्त ही रहा और जिनके अंत:करण का सौंदर्य्य उसी प्रकार लोगों से छिपा रहा जैसे निर्जन वन में खिली हुई कमलिनी का। जिनका जी चाहे वे रण-रक्त-रंजित विजयी योद्धाओं की प्रशंसा करें, तथा अपनी नीति द्वारा निर्बल जातियों के सुख और स्वातंत्र्य का अपहरण करनवाले राजनीतिज्ञों को धन्य धन्य कहें, पर जो सत्यप्रिय और ज्ञानार्थी हैं वे उसी आत्मिक बल का बखान करते हैं जो संसार के दु:ख और झंझट को, निंदा और उपहास को, अभाव और दरिद्रता को कुछ नहीं समझता। यही आत्मिक बल संसार की कठिन कसौटी पर ठहर सकता है।

आजकल उन्नति और विद्याप्रचार के जितने साधन हैं, उतने पहले समय में न थे। प्राचीन काल में न छापे की कलें थीं, न स्थान स्थान पर बड़े-बड़े पुस्तकालय थे, न सामयिक पत्र पत्रिकाएँ थीं, न डाक विभाग था, न वैज्ञानिक परीक्षालय थे, पर ऐसे ऐसे अध्यवसायी, मेधावी और प्रतिभाशाली

विद्वान् होते थे जिनकी कृतियों को देख आजकल के लोगों को भी चकित होना पड़ता है। शारीरिक वीरता लोगों को तोप के मोहड़े के सामने ले जाकर खड़ा कर सकती है, क्योंकि वे एक दूसरे की देखादेखी तथा प्रतिहिंसा, विजय और लूट की आशा से उत्तेजित रहते हैं। पर भूख प्यास का वेग, शीत ताप की व्यथा, उद्धतों का कुव्यवहार, धनियों द्वारा अपमान सहने के लिये एक और ही उच्च प्रकार की प्रेरणा की आवश्यकता होती है। ज्ञान के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन और आत्मा की उन्नति करने के लिये एकांत में, अकेले और अज्ञात भाव से परिश्रम करना पड़ता है। जिस समय लिखने पढ़ने की सामग्रियों और पुस्तकों का अभाव था, विद्यार्थी गुरुकुलों में कुशासन पर सोते थे, वन वन लकड़ी चुनते और कंद मूल उखाड़ते थे, उस समय भी ऐसे ऐसे प्रकांड आचार्य्य हुए जिन्होंने ज्ञान की ज्योति को निरंतर प्रज्वलित रखा और भावी संतति की ओर बढ़ाया। आत्म-संस्कार में रत युवा पुरुष जितनी प्रशंसा ऐसे लोगों के धर्मबल की करेंगे, उतनी प्रशंसा उन योद्धाओं के बाहुबल की नहीं, जो तलवार और भाले लेकर विजय और कीर्ति की लिप्सा से संग्रामभूमि में अग्रसर हुए हैं। इसी एक धर्मबल के सहारे संसार के बड़े बड़े महात्माओं ने ज्ञान की खोज में अनेक आपत्तियाँ उठाईं और अनेक संकट सहे। लोग कह सकते हैं कि जो काम उन्होंने किए, उनका महत्त्व उन्हें अवश्य विदित था। पर महत्त्व विदित होने

पर भी यदि उनमें ज्ञान की निःस्वार्थ चाह न होती तो वे इस वीरता के साथ और इस अटल भाव से अपने व्रत का पालन करते हुए अपने विकट और कंटकमय मार्ग में अग्रसर न हो सकते।

जब कि उस समय के लोग इतना कर गए, तब क्या आज कल के लोग सब कुछ सुबीता रहते हुए भी अपना जीवन-निर्वाह उसी योग्यता के साथ नहीं कर सकते? क्या आज-कल के लोग उन प्राचीनों से भी गए बीते बनना चाहते हैं जिनके पास उन्नति के साधन इतने अल्प थे? एक बात जो आत्मा में भली भाँति अंकित कर रखने की है, वह यह है कि मनुष्य का जीवन केवल एक ही गुण से उच्च और महान् हो सकता है। वह गुण सत्यबल है। सत्यबल योग से प्राप्त होता है। सत्यबल धर्मबल ही का नाम है। यदि तुम यह समझते हो कि पोथियों, पांडित्यपूर्ण शास्त्रार्थों, तथा तर्क वितर्क से ही तुम सब कुछ कर लोगे, तो यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है। पुस्तकें तुम्हें जाग्रत् और उत्तेजित कर सकती हैं तथा उँगलियों का इशारा कर सकती हैं कि इधर उधर न भटको, पर वे तुम्हें पथ पर अग्रसर नहीं कर सकतीं। पथ पर अग्रसर तुम्हारे पैर ही करेंगे। यह करने धरने की बात है, केवल जानने की बात नहीं है। उँगलियों के इशारे मिलते रहें तो अच्छी बात है, पर यदि उनके बिना काम चले तो और भी अच्छी बात है; क्योंकि यह निश्चय समझो कि जीवन-यात्रा में थोड़ी दूर आगे चलकर तुम्हें फिर उजाड़ मैदान और दलदल मिलेगी; सो यदि तुम्हें

पग पग पर दूसरों ही के इशारे पर चलने का अभ्यास रहेगा, तो किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ होकर तुम फटफटाते रह जाओगे। तुम्हारा पथप्रदर्शन तुम्हारी आत्मा में होना चाहिए, अन्यथा तुम्हें उद्धार के लिये ऐसों का मुँह ताकना पड़ेगा जिनकी दशा तुमसे कदाचित् ही कुछ अच्छी होगी। अतः कमर कस-कर उठो और इस बात को प्रमाणित कर दो कि जिस प्रकार तुम्हें चलना रहता है तो चलते हो, कूदना रहता है तो कूदते हो, उछलना रहता है तो उछलते हो, उसी प्रकार तुम श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिये प्रत्येक अवसर पर श्रेष्ठ आचरण करते हो। आत्म-बल का संपादन करो, हृदय और बुद्धि को परिष्कृत करो और अपना संकल्प दृढ़ रखो। तुम दुनिया में रहकर भी बिल्कुल दुनियादारी ही का व्यवहार न करो, इंद्रियों से कार्य्य लेते हुए भी इंद्रियासक्त न हो जाओ, बल्कि अपना संकल्प उच्च और आशय गंभीर रखो। जब तुम भाँति भाँति के प्रलोभनों वा आपदाओं के बीच पड़ोगे अथवा विरोधियों से घिर जाओगे, तब तुम्हें अपनी आत्मा ही की शरण रहेगी, अपने दृढ़ संकल्प का ही सहारा रहेगा। ऐसे अवसरों पर तुम तिल भर भी न डिगना। जब सिपाही गढ़ के द्वार में घुसता है, तब वह या तो बराबर आगे बढ़ता जाता है और विजय प्राप्त करता है अथवा पीठ दिखाता वा मारा जाता है। जब तक समुद्र वा नदी का बाँध मजबूत रहता है, तब तक उसके पीछे की भूमि रक्षित रहती है; पर जहाँ उसमें

कोई छेद हुआ कि जल वेग के साथ उसे तोड़ फोड़ देता है और बढ़कर सब कुछ सत्यानाश कर देता है। पवित्रता और शुद्धता का आदर्श सदैव अपने सामने रखो जिसमें तुम्हारे संकल्प और भाव आत्मबल के सहारे उसके निकट तक पहुँचें। इस पृथ्वी पर मनुष्य या तो इंद्रियों का सुख भोगे अथवा आत्मा की शांति प्राप्त करे। यदि आत्मा की शांति प्राप्त करनी है, यदि अपने मानव जीवन को देव-जीवन बनाना है, यदि इस मर्त्यलोक में निर्द्वंद्व भाव से रहना है तो इस भाव-कानन के कुफल न चखो। बाहरी सौंदर्य्य से नेत्रों को आनंद मिल सकता है, पर काल की गति के साथ यह क्षणिक आनंद भी देखते ही देखते बदल जाता है। द्रव्य ही परिवर्त्तनशील है, आत्मा का आदर्श भाव, जिसे सौंदर्य्य और उत्तमता की अगोचर अवस्था कह सकते हैं, लौकिक से परे एक दिव्य ज्योतिर्मय सृष्टि से संबंध रखता है। क्या इस आदर्श भाव के सहारे तुम ऊँचे उठना चाहते हो? यदि चाहते हो तो पार्थिव को छोड़ो और इस क्षुद्र अंधकारमय जीवन से निकलकर आदर्श भावमय राज्य में प्रवेश करो। वहाँ परमात्मा का वह रूप दिखाई पड़ेगा जिसका जीवात्मा एक अंश है। उस दिव्य रूप में जीवात्मा पूर्ण, शुद्ध, बुद्ध और नित्य देख पड़ेगा, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

अस्तु, हमें चाहिए कि हम विषयादि में नितांत लिप्त न होकर शुद्ध आत्मा की शांति का सुख भोगें; क्योंकि—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजंतः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनंतं विदधति ॥

चाहे हम कितने ही दिनों तक क्यों न रहें, विषयादि एक दिन अवश्य जानेवाले हैं; इसलिये चाहे हम स्वयं उनका त्याग करें अथवा वे हमारा त्याग करें, उनके हमारे वियोग में किसी प्रकार का संशय नहीं। पर संसारी मनुष्य फिर भी स्वयं उनका परित्याग नहीं करते। जब आप ही आप विषयादि हमारा त्याग करते हैं, तब हमें अत्यंत दुःख होता है; पर जब हम स्वयं उनका परित्याग कर देंगे, तब अनंत शांति सुख का लाभ कर सकेंगे।

युवा पुरुषों के लिये हम यहाँ परिश्रम के महत्त्व की लंबी चौड़ी व्याख्या की आवश्यकता नहीं समझते। जो परिश्रम करने के लिये उद्यत नहीं, वह आत्मसंस्कार में भला क्या प्रवृत्त होगा? आलसी और अकर्मण्य को अपना हृदय परि-

ष्कृत करने और बुद्धि विवर्धित करने की लालसा ही न होगी। पर अध्यवसाय की आवश्यकता की ओर मैं विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूँ। मैंने ऐसे बहुत से आरंभशूर युवा पुरुषों को देखा है जिन्होंने बड़ी धूम और तपाक के साथ कार्य्य आरंभ किया, बड़ी बड़ी पुस्तकें इकट्ठी कीं, अध्ययन की प्रणाली स्थिर की, पर जहाँ उन्होंने दो चार पृष्ठ पढ़े, या दो चार सवाल लगाए कि उनके सामने भारी कठिनता दिखाई दी। फिर तो पुस्तकें किनारे फेंक सारी पढ़ाई लिखाई उन्होंने यह कहकर छोड़ दी कि 'यह सब हमारे किए न होगा'। आरंभशूर पुरुषों को थोड़ा ही आगे चलकर यह मालूम होने लगता है कि जो कार्य्य उन्होंने ठाना है, वह उनकी शक्ति और सामर्थ्य के बाहर है। थोड़ा सोचिए तो कि यह कैसी बात है? उस सेनापति को लोग क्या कहेंगे जिसने शत्रु के दुर्ग को तोड़ने का संकल्प करके उसका नकशा तैयार किया, जो आक्रमण करने के लिये सिपाहियों को लेकर आगे बढ़ा, पर एक छोटी सी खाई देखकर लौट आया! आत्मसंस्काराभिलाषी पुरुष में अध्यवसाय अवश्य चाहिए। उसे कठिनाइयाँ पड़ेंगी—एक दो नहीं सैकड़ों—पर ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता जायगा, त्यों त्यों उसकी एक एक कठिनाई सुगम होती जायगी और बराबर कृतकार्य्य होते होते उसे पूरी आशा और हिम्मत बँध जायगी। कठिनाइयाँ तो अवश्य पड़ेंगी, क्योंकि यदि कठिनाइयाँ न हों तो फिर अभ्यास और परिश्रम का महत्त्व ही क्या? हम ऐसे

वीर सेनानायक की प्रशंसा नहीं करते जो किसी अरक्षित देश में बिना किसी प्रकार की लड़ाई भिड़ाई के प्रवेश करता है। ज्ञान का आधा महत्त्व और सौंदर्य्य नष्ट हो जाय, यदि वह बिना कठिन और अखंड प्रयत्न के प्राप्त हो। पुरुषार्थियों के लिये यथार्थ आनंद प्रयत्न में है, फल में नहीं। प्रयत्न ही आत्मा की शिक्षा और चरित्र की उन्नति का विधान करता है। प्रयत्न ही मनुष्य को धैर्य और शांति रखने, तथा कर्त्तव्य स्थिर करने की शिक्षा देता है। प्रयत्न में मनुष्य को कठिनाई अवश्य पड़ती है, पर कोई कठिनाई ऐसी नहीं जो दूर न की जा सके। किसी धीर और पुरुषार्थी के हाथ में एक घन और टाँकी तथा कुछ समय दे दीजिए, वह बड़ी बड़ी चट्टानों को उखाड़कर फेंक देगा। इसी प्रकार आत्मशिक्षाभिलाषी पुरुष अवसर और साधन पाकर जिस काम को करना चाहेगा, कर डालेगा। प्रयत्न और परिश्रम अच्छे गुण हैं, पर अध्यवसाय सब से बढ़कर है। कोई मनुष्य परिश्रमी होकर भी विफलता देख शीघ्र हतोत्साह हो सकता है। उसका जी यह देखकर टूट सकता है कि वह अपने काम में बहुत कम आगे बढ़ा है। युवा पुरुष को जिस गुण की बड़ी भारी आवश्यकता है, वह अध्यवसाय है। इसके बिना वह कुछ नहीं कर सकता। मान लीजिए कि वह कोई काम करता चला जा रहा है। इसी बीच में उसके मन में आया कि 'जितना समय नित्य मैं इस काम में लगाता हूँ, उतने से क्या होगा; काम बहुत है।' अर

क्या उसे उस काम को बीच ही में छोड़ देना चाहिए ? नहीं कदापि नहीं, उसे अध्यवसायपूर्वक काम करते चलना चाहिए। उसे किसी बात से हतोत्साह न होना चाहिए; उसे हार मानकर बैठ न रहना चाहिए। यदि तुम्हें प्रतिदिन एक घंटा ही मिलता है तो उसी एक घंटे का पूरा उपयोग करो। यदि साहित्य की ओर तुम्हारी रुचि नहीं है तो इतिहास पढ़ो, विज्ञान सीखो, दर्शन में अभ्यास करो। कला-कौशल में निपुणता प्राप्त करो। तात्पर्य्य यह कि अध्यवसाय न छोड़ो। तुम्हें पहले यह सीखना चाहिए कि किस तरह सीखना होता है। जिस तरह बच्चा जब पैरों के बल चलने का अभ्यास करना सीखने लगता है, तब कई बार गिरता पड़ता है, उसी प्रकार तुम्हें भी गिरना पड़ना पड़ेगा; पर उद्योग न छोड़ना।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमंति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजंति ॥

जब वसुदेवजी अँधेरी भयानक रात्रि में बालक श्रीकृष्ण को लिए पार जाने के निमित्त बढ़ी हुई जमुना के किनारे पहुँचे, तब वे ठिठककर खड़े हो गए, पार होने का कोई उद्योग उनसे न बन पड़ा। जब देव-बल से जमुना का जल कम हुआ, तब वे नदी में हलकर पार हुए। पर साधारण अवस्थाओं में युवा पुरुषों के लिये इस प्रकार ठिठककर खड़ा हो जाना ठीक

नहीं। उन्हें चटपट कमर कसकर नदी पार करने के उद्योग में लग जाना चाहिए। संस्कृत साहित्य की ओर यूरोप को आकर्षित करनेवाले, एशियाटिक सोसाइटी के संस्थापक सर विलियम जोंस का यह सिद्धांत था कि चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ पड़ें, जिस कार्य में मनुष्य हाथ डाले, उसे बिना पूरा किए न छोड़े। इसी से उन्होंने अपने अल्प जीवन-काल में आठ भाषाओं में तो पूरी और आठ भाषाओं में उससे कम योग्यता प्राप्त की। इनके अतिरिक्त वे बारह और भाषाओं की भी थोड़ी बहुत जानकारी रखते थे। यह सब अध्यवसाय के अमोघ बल से हुआ। इसी प्रकार यहाँ पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर, जस्टिस महादेव गोविंद रानडे, अध्यापक हरिनाथ दे, रमेशचंद्र दत्त, डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र आदि बहुत से लोगों के वृत्तांत दिए जा सकते हैं; पर वे इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके नाम देने ही से काम निकल जायगा। ये लोग पुकार पुकारकर इस भारी बात की घोषणा कर रहे हैं कि अध्यवसाय के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। यही राजनीतिज्ञ की बुद्धि है, विजयी का अस्त्र है, विद्वान् का बल है। प्रसिद्ध संस्कृत वैयाकरण और ग्रंथकार बोपदेव के विषय में एक आख्यान प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि जब वे गुरु के समीप विद्याध्ययन के लिये बैठाए गए, तब उनकी बुद्धि अत्यंत मोटी थी। गुरु जो कुछ समझाते थे, वह उनकी समझ में नहीं आता था। एक दिन उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया

कि अब मुझे पढ़ना न आवेगा और वे घर से निकल पड़े। एक दिन वे घूमते घूमते एक सरोवर के तट पर पहुँचे जिसके चारों ओर पत्थर का घाट बँधा था। वहाँ बैठे ही थे कि इतने में एक स्त्री घड़ा लेकर आई और उसे घाट पर रख नहाने लगी। थोड़ी देर में वह नहा धोकर और घड़े में पानी लेकर चली गई। बोपदेव ने देखा कि जहाँ उस स्त्री ने घड़ा रखा था, वहाँ पत्थर पर एक गड्ढा पड़ गया है। यह देखकर बोपदेव ने मन में सोचा कि जब पत्थर ऐसी कठोर वस्तु मिट्टी के घड़े की रगड़ से घिस जाती है, तब क्या लगातार परिश्रम करने से मेरी स्थूल बुद्धि भी घिसकर सूक्ष्म न हो जायगी। इस विचार के उठते ही बोपदेव वहाँ से चल पड़े और फिर अपने गुरुजी के पास आकर तन मन से विद्याध्ययन में लग गए। फिर तो बोपदेव ऐसे भारी पंडित हुए और उन्होंने ऐसे ऐसे ग्रंथ बनाए कि उनका नाम सारे भारत-वर्ष में फैल गया। बंगदेश में इन्हीं बोपदेव के व्याकरण को पढ़कर लोग पंडित होते हैं।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर जिस समय अपने ग्राम की शिक्षा समाप्त करके कलकत्ते के संस्कृत कालेज में भरती हुए, उस समय उन्होंने अध्यवसाय और परिश्रम की पराकाष्ठा कर दी। संस्कृत व्याकरण के साथ उन्होंने स्कूल में अँगरेजी पढ़ना भी आरंभ किया। ईश्वरचंद्र के पिता अत्यंत साधारण वित्त के मनुष्य थे, इससे वे पुत्र की विशेष सहायता न कर सकते

थे। ईश्वरचंद्र दिन भर तो कालेज और स्कूल में संस्कृत और अँगरेजी का पाठ सुनाते और लेते, रात को रसोई बनाकर पढ़ने बैठते और दो दो बजे रात तक बैठे रह जाते। वे कभी कभी एक दिन का बनाया दो दो दिन खाते। उन दिनों उनका यह हाल था कि वे सबेरे स्नान करके बाजार जाते और तरकारी इत्यादि लेकर डेरे पर लौट आते। फिर अपने हाथों ही से सिल पर हल्दी मसाला पीसते और आग जलाते थे। उनके बासे में चार आदमी भोजन करते थे। सब के लिये वे भात, दाल, मछली, तरकारी आदि बनाते। फिर सब के भोजन कर चुकने पर चौका साफ करते और बरतन माँजते थे। सचमुच बासन माँजते और लकड़ी चीरते चीरते उनके हाथ खुरखुरे हो गए थे और दो एक नख घिस गए थे। इस अपूर्व परिश्रम का विद्यासागर को अपूर्व फल मिला। थोड़े ही दिनों में वे व्याकरण, साहित्य, स्मृति, अलंकार आदि में पारंगत हो गए और उन्होंने उच्च छात्रवृत्ति प्राप्त की। धीरे धीरे वे विद्यासागर हो गए और उनकी उज्ज्वल कीर्ति सारे भारत-वर्ष में फैल गई।

अध्यवसाय मानसिक शिक्षा का एक बड़ा भारी साधन है। मन को व्यर्थ इधर उधर बहकने से रोकने के लिये, कल्पना को अनुपयोगी विषयों में लीन होने से बचाने के लिये मेरी समझ में इससे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है कि तर्क-विद्या की खरी शैली का अभ्यास किया जाय अथवा प्राचीन

और अर्वाचीन भाषाओं का पूर्ण अध्ययन किया जाय। अध्यवसाय नैतिक शिक्षा का भी साधन है। जब बौद्ध भिक्षुओं को मार के प्रलोभनों का बहुत भय होता है, तब वे अपने धर्म्मकार्यों में दूनी तत्परता के साथ रत हो जाते हैं। यदि प्रत्येक घड़ी के लिये कोई न कोई काम रहे तो क्षुद्र ईर्षा, मात्सर्य, अपवित्र वासना आदि के लिये समय न मिले, ऐसे खोटे उद्योगों के लिये अवकाश ही न रहे जिनके द्वारा खाली बैठे हुए निकम्मे लोग अपना सत्यानाश करते हैं। अँगरेजी कहावत है कि शैतान ऐसे ही हाथों को खोटे कर्म्मों की ओर बढ़ाता है जिनमें कुछ काम धंधा नहीं रहता। अध्यवसाय के महत्त्व को समझते हुए भी युवा पुरुष को चाहिए कि वह इस बात में भी आवश्यकता से अधिक न बढ़ जाय। बहुत से युवा पुरुषों के लिये तो इस चेतावनी की कोई आवश्यकता ही नहीं; क्योंकि विरले ही मनुष्यों को परिश्रम वा अध्यवसाय इतना प्रिय होता है। पर कभी कभी कोई उत्साही छात्र ज्ञान-पिपासा के इतना वशीभूत हो जाता है कि वह उतना समय व्यर्थ नष्ट हुआ समझता है जितना पुस्तकों के अध्ययन में नहीं बीतता। इसी विचार से मैं युवा पुरुषों में एक और गुण का होना आवश्यक समझता हूँ जिसे संयम वा मिताचरण कहते हैं। किसी बात में अति कभी न करनी चाहिए। यह वाक्य सदा ध्यान में रखना चाहिए "अति सर्वत्र वर्जयेत्"। हर एक बात की हद होती है। जिस प्रकार राजाओं को नए

नए देशों को जीतकर राज्य में मिलाने की धुन हो जाती है, उसी प्रकार किसी किसी विद्या-व्यसनी को एक शास्त्र से दूसरे शास्त्र, एक विद्या से दूसरी विद्या पर अधिकार प्राप्त करने की धुन हो जाती है। वह कभी इतिहास पढ़ते पढ़ते दर्शनों की ओर झुकता है; कभी संस्कृत प्राकृत में प्रवीण होकर अरबी फारसी सीखने लगता है; रसायन और विज्ञान में पारंगत होकर भूगर्भविद्या और वनस्पतिविद्या में परिश्रम करता है। सच्चे जिज्ञासु और विद्वान् का यही लक्षण है। पर उसे इस बात से भी सावधान रहना चाहिए कि अत्यंत अधिक परिश्रम से कहीं वह अस्वस्थ न हो जाय और किसी काम के करने लायक ही न रहे। अतः हे युवा पुरुषों! तुम्हें चाहिए कि तुम अति न करो। तुम्हें काम की भी उसी प्रकार अति न करनी चाहिए जिस प्रकार आराम की। जितना समय तुम्हारे हाथ में हो, उसे अच्छी तरह सोच समझ लो और जितना तुम उसके बीच कर सकते हो, उससे अधिक के लिये प्रयत्न न करो। मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि अपने समय और शक्ति का क्रम और व्यवस्थापूर्वक उपयोग करने से तुम कितने बड़े बड़े काम कर सकते हो। इस ढंग से तुम जितना कर सको उससे संतोष करो, अपने शरीर और मस्तिष्क के पुरजों से इतना अधिक काम न लो जितना वे स्वस्थतापूर्वक न कर सकें। यदि तुम शरीर वा मस्तिष्क पर बहुत अधिक बोझ डालोगे, उसे बहुत अधिक झटका दोगे, तो वह तड़ से

उखड़ जायगा। मैंने बहुत से युवा पुरुषों को देखा है जो एकबारगी बहुत अधिक काम के कारण चक्कर खाते हुए सिर में भीगा रूमाल लपेटते हैं, थके हुए मन में फुरती लाने के लिये दम पर दम गरमागरम चाय पीते हैं तथा इसी प्रकार के और अनेक उपाय करते हैं। यह अत्यंत हानिकारक है, यह भारी पागलपन है। इससे भाँति भाँति के रोग लग जाते हैं और शरीर उखड़ जाता है। मैंने ऐसे बहुत से लोगों को देखा है जो पढ़ने में अति करने के कारण अकाल ही काल के गाल में गए हैं। यदि वे अपने समय और श्रम का संयम-पूर्वक उचित विभाग करते तो अपने जीवन से हाथ न धोते। संयम और व्यवस्था इन दो बातों से बड़ी रक्षा होती है। युवा पुरुष को चाहिए कि वह अपने उद्देश्यों को परिमित रखे और अपने कार्यों को नियमित करे। यदि मन को नियत समय पर एक एक विषय की ओर लगाया जाय, तो वह बहुत कुछ कर सकता है। पर यदि उसे लगातार एक ही ओर लगाकर उस पर एक ही समय में बहुत सा बोझा डाल दिया जायगा तो अंत में कुछ भी न हो सकेगा। लोगों की मृत्यु असंयम ही से होती है। नियमपूर्वक कार्य करने से कोई नहीं मरता, बल्कि इतिहास और जीवनचरित इस बात के साक्षी हैं कि काम करने से मनुष्य दीर्घायु होता है। पड़ी पड़ी मुर्चा खाने से वस्तु जितनी जल्दी नष्ट होती है, उतनी व्यवहार में आने से नहीं। बेंजमिन फ्रेंकलिन नामक एक

असाधारण उद्योगी मनुष्य हो गया है। उसकी दिनचर्य्या इस प्रकार थी—

समय	काम
प्रातःकाल ५ बजे से ७ बजे तक (प्रश्न—आज कौन सा अच्छा काम मुझे करना है?)	उठना, हाथ मुँह धोकर नित्य क्रिया करना। दिन भर के काम का ढंग सोचना और निश्चित करना। अध्ययन करना। जलपान।
८ बजे से ११ बजे तक	काम
दोपहर १२ बजे से १ तक	पढ़ना, हिसाब किताब देखना, भोजन करना।
२ बजे से तीसरा पहर ५ तक	काम
संध्या ६ बजे से ९ बजे तक	चीजों को ठिकाने रखना, भोजन करना, संगीत, वार्तालाप तथा और मनोविनोद। दिन भर के काम का लेखा।
१० बजे से रात ४ बजे तक	सोना

मैं पाठकों से इस दिनचर्य्या का पूरा पूरा अनुकरण करने के लिये नहीं कहता, मेरा अभिप्राय केवल नियम का महत्त्व

दिखाने का है। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन की स्थिति के अनुसार अपने समय को बाँटना चाहिए। एक बात और है। मेरी समझ में फ्रैंकलिन की इस दिनचर्य्या में समय का उतना ध्यान नहीं रखा गया है। सोने के लिये केवल ६ घंटे का समय काफी नहीं है। पर इस विषय पर विशेष मैं आगे चल-कर कहूँगा। यहाँ पर मैं केवल संयम रखने अर्थात् किसी बात में अति न करने का आग्रह करना चाहता हूँ और नियम का महत्त्व समझाना चाहता हूँ जिसके बिना संयम संभव नहीं। स्काटलैंड का कवि रावर्ट निकल पाँच बजे तड़के उठता था और सीधा नदी के किनारे चला जाता था। वहाँ जाकर वह सात बजे तक लिखा करता था। सात बजे वह काम पर जाता था। नौ बजे रात को जब उसका काम समाप्त हो जाता था, वह पढ़ने बैठता था और कभी कभी पढ़ते पढ़ते सबेरा कर देता था। इस असंयम का फल यह हुआ कि वह नवयुवक कवि थोड़े ही दिनों में अपने जीवन से हाथ धो बैठा। इसके विरुद्ध वंगभाषा के प्रसिद्ध ग्रंथकार बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय दिन भर में तीन चार घंटे नियमित रूप से लिखने का काम करते थे। ऐसे अनेक बड़े बड़े ग्रंथकार हो गए हैं जो प्रातःकाल नियमपूर्वक तीन चार घंटे काम करके अनेक बड़े बड़े ग्रंथों की रचना करने में समर्थ हुए। प्रसिद्ध अँगरेजी उपन्यास-लेखक स्काट अपनी समृद्धि के दिनों में, जब कि उसकी प्रतिभा का पूर्ण विकास था,

केवल प्रातःकाल का समय साहित्यसेवा में लगाता था। पर पिछले खेवे में जब उस पर ऋण बहुत अधिक चढ़ गया, तब उसने रात रात और दिन दिन भर मिहनत की और पाँच वर्ष में ६३००० पाउंड (९४५००० रु०) का ऋण चुका दिया। फल यह हुआ कि उसका मस्तिष्क विकृत हो गया और वह थोड़े ही दिनों में मृत्यु को प्राप्त हुआ। इससे आत्मशिक्षार्थी को संयम से चलना चाहिए। संयम सोने की लगाम है।

जिस प्रकार युवक को काम में अति न करनी चाहिए, उसी प्रकार उसे आमोद में भी अति न करनी चाहिए। उसे दोनों पलड़ों को बराबर रखना चाहिए, किसी को झुकने न देना चाहिए। काम करनेवाले के लिये आमोद प्रमोद भी बहुत ही आवश्यक है। उसे मनोरंजन के लिये कुछ समय अवश्य रखना चाहिए, नहीं तो उसकी सारी मनोवृत्तियाँ मंद पड़ जायँगी और उसका सारा शरीर रोग के हवाले होगा। बड़े काम करनेवालों को सामान्य बातों में भी आनंद प्राप्त करने से लज्जित न होना चाहिए। जिन बातों से स्वभावतः साधारण लोगों का जी बहलता है, उन बातों से वे भी अपना जी बहला सकते हैं। यह नहीं कि जो बड़ी बड़ी लड़ाइयों को जीतता हो, राजनीति द्वारा बड़े बड़े राज्यों का परिचालन करता हो, उसे बालकों की क्रीड़ा से कुछ आनंद ही न मिले। फ्रांस के बादशाह चौथे हेनरी के पास स्पेन का एक राजदूत

रहता था। बादशाह एक दिन अपने एक बच्चे को पीठ पर सवार करा कर घुटनों के बल चल रहे थे। बच्चा प्रसन्न हो होकर चाबुक मारता और एड़ लगाता था। राजदूत ने यह देख लिया। बादशाह ने राजदूत से पूछा—"तुम्हारे बाल बच्चे हैं?" राजदूत ने कहा—"हाँ हैं।" बादशाह ने कहा—"तब ठीक है। जरा मैं इस कमरे में एक चक्कर और लगा लूँ।" एक धुरंधर राजनीतिज्ञ का कथन है—"मैंने कई बार चाहा कि उन बातों को छोड़ दूँ जो लड़कपन की आदतें कहलाती हैं, पर थोड़ा सोचने पर मुझे ध्यान हुआ कि यह मेरी बड़ी भारी मूर्खता होगी। मुझे परमात्मा का यह बड़ा भारी प्रसाद समझना चाहिए कि मुझे हर एक बात में आनंद मिलता है। मुझे गेंद उछालने में भी आनंद आता है और चीन के सम्राट् के साथ पत्र-व्यवहार करने में भी।" कार्य को ईमानदारी के साथ पूरा करने के लिये विश्राम और आमोद आवश्यक है। थकी माँदी देह और ढीली नसें मस्तिष्क से बदला चुकाती हैं; क्योंकि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का संबंध बहुत घनिष्ठ है, तन और मन का नाता बड़ा गहरा है। विश्राम वा आमोद अत्यंत आवश्यक है, पर हमें उसका व्यसन न हो जाना चाहिए। संयमी पुरुष किसी बात में अति नहीं करेगा। वह जीवन में बड़े हिसाब से चलेगा। वह संकल्प के संयम का भी ध्यान रखेगा, बहुत बढ़कर मन न दौड़ावेगा। वह अपनी आशाओं को परिमित करने और अपने

हौसलों को रोकने का भी प्रयत्न करेगा। यदि उसमें कुछ सार है तो वह थोड़े लाभ से भी संतुष्ट होगा। वह बरस दिन की राह छः महीने में चलकर अपने को भय और आपत्ति में न डालेगा। युवा पुरुष जब पहले पहल जीवन के कार्य-क्षेत्र में आते हैं, तब वे बड़ी बड़ी बातों का मनोहर स्वप्न देखते हैं, बड़े बड़े हवाई महल उठाते हैं जो थोड़े दिनों पीछे हवा हो जाते हैं और चित्त में पछतावा ही रह जाता है। जीवन का व्यापार हँसी खेल नहीं है। यह न समझो कि बाजी सदा तुम्हारे ही हाथ में रहेगी, तुम्हारी निपुणता और चतुराई के कारण जीत तुम्हारी ही होगी। यह समझ रखो कि संयोग बड़ा प्रबल है। जिस समय तुम समझते हो कि सारी बाजी तुम्हारे हाथ में है, उसी समय बाजी उलट जाती है और तुम मुँह ताकते रह जाते हो। इससे अपनी आशाओं को परि-मित रखो, अपने मन को आकाश पर मत चढ़ाओ। धीरता, शांति और उद्देश्य की गंभीरता सच्ची बुद्धिमानी के लक्षण हैं। महाराज रणजीतसिंह के विषय में कहा जाता है कि लड़ाई के पहले वे बहुत उद्विग्न और चंचल दिखाई पड़ते थे; पर ज्यों ही लड़ाई आरंभ हो जाती थी, वे बहुत ही धीर और गंभीर भाव धारण कर लेते थे। जीवन के संग्राम में भी उसी धीरता के साथ चलो। यदि तुम विजय न भी प्राप्त करोगे तो भी तुम अपना मान न खोओगे। जरतुश्त का वचन है—"धीर और संयमी मनुष्यों पर कृपा करने में देवता बड़ी जल्दी करते

हैं।" यह भी सच है कि जो मनुष्य थोड़े की आशा रखता है, वह भाग्य से बहुत पाता है।

जिस प्रकार मन का बहुत बढ़ाना ठीक नहीं, उसी प्रकार उद्देश्य और प्रयत्न को भी बहुत बढ़ाना अच्छा नहीं। न तो एक साथ बहुत बड़ी बड़ी आशाएँ करो और न बहुत बड़ी बड़ी बातों के लिये प्रयत्न करो। पहले तुम अपनी सामर्थ्य का ठीक ठीक अंदाजा करो और फिर ऐसा काम हाथ में लो जो तुम्हारी शक्ति के बाहर न हो। विफलता वही निदित है जो एकबारगी बहुत अधिक मन बढ़ाने से होती है। वामन होकर चंद्रमा छूने के लिये हाथ बढ़ाना लोक में उपहास-जनक ही होता है। जो बैलगाड़ी हाँक सकता है, वह यदि सूर्य का रथ हाँकने चले तो उसकी विफलता पर ताली पीटने के सिवा लोग और क्या करेंगे? गिरधरराय ने ठीक कहा है—

बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेय।
जो बनि आवे सहज में ताही में चित देय॥
ताही में चित देय बात जोई बनि आवै।
दुर्जन हँसे न कोय चित्त में खेद न पावै॥

नाटक के एक अभिनय में बासवेल (Boswell) नामक ग्रंथकार ने गाय के रँभाने की ऐसी साफ नकल की कि दर्शकों ने प्रसन्न होकर बार बार करतल-ध्वनि की। अब तो बासवेल का मन बढ़ा और वह दूसरे जानवरों की बोली बोलने का भी प्रयत्न करने लगा, पर उससे बना नहीं। इस पर दर्शकों में से

एक बड़ी चतुराई के साथ बोल उठा—"गाय ही तक रहो, गाय ही तक रहो"। हे युवकगण! तुम संयमी बनो और जहाँ तक पहुँच सकते हो, वहीं तक हाथ बढ़ाओ। यह बात निश्चय जानो कि इस संसार में हममें से हर एक को कुछ न कुछ करना है; और जो परमात्मा हमारे कार्य नियत करता है, वही उसके करने की शक्ति भी हमें प्रदान करता है। उसका बड़ा भारी अभाग्य समझना चाहिए जो यह नहीं जानता कि हमारा काम क्या है और ऐसी उड़ान मारना चाहता है जिसकी उसमें कुछ सामर्थ्य नहीं। मैं ऐसे बहुत से लोगों को जानता हूँ जिनके हौसले उनकी योग्यता से बहुत बढ़े हुए थे और जिन्होंने थोड़ी पूँजी वा अल्प साधन रखकर भी बड़े बड़े कामों में हाथ डाला और जो पीछे सिर पीट पीटकर खूब पछताए। मैं साहसी और क्षमता-शाली पुरुषों के उत्साह को मंद नहीं करना चाहता और न उनके हौसलों को पस्त करना चाहता हूँ। मैं अकर्मण्यता और आलस्यपूर्ण संतोष का उपदेश नहीं देता हूँ। प्रत्येक युवा पुरुष के लिये अपने बढ़ने का हौसला करना, अपनी उन्नति का प्रयत्न करना अच्छी बात है; पर उसे पहले अपनी सामर्थ्य का अंदाज बाँध लेना चाहिए और प्रस्तुत साधनों का विचार कर लेना चाहिए। ऊपर चढ़ना तो अच्छी बात है, पर गिरना नहीं। उसे सीढ़ी सीढ़ी ऊपर चढ़ना चाहिए और प्रत्येक सीढ़ी पर यह देख लेना चाहिए कि पैर अच्छी

तरह जमा है या नहीं। इस प्रकार अपने बल का निश्चय करके तब आगे की सीढ़ी पर पैर जमाना चाहिए। संयमी पुरुष ही इस संसार में अपने इच्छानुकूल सब कुछ कर पाते हैं। जो अपने साधनों का अच्छी तरह विचार कर लेता है, वही कृतकार्य होता है। जो काम तुम्हारे लिये है, वही करो; उससे अधिक की न तुम आशा कर सकते हो, न साहस। वही काम तुम्हारे लिये है जिसके करने के तुम्हारे पास साधन हैं। जगन्नाथ पंडितराज ने रघुवंश ऐसे किसी महाकाव्य में हाथ नहीं लगाया। शीशे पर रंग पोतकर भद्दी तसवीरें बनानेवाले 'शकुंतला-पत्रलेखन' के समान चित्र बनाने का आयोजन नहीं करते। जब कभी कोई कवि वा शिल्पकार अपनी सामर्थ्य का विचार नहीं करता और अपना हौसला बहुत बढ़ाता है, तब उसका परिणाम क्या होता है ? घोर विफलता और जगत् में हँसाई। ऐसे कवि का काव्य पुड़िया बाँधने के काम में आता है और ऐसी कारीगरी की बनाई चीज काठ कबाड़ के संग बिकती है। क्योंकि हम चाहे जो करें, प्रकृति को चकमा नहीं दे सकते। हम धूल की रस्सी नहीं बट सकते। हम जुगनू से दिन का प्रकाश नहीं कर सकते।

इसमें उदास और हतोत्साह होने की कोई बात नहीं है। युवा पुरुषों के हौसलों में प्रायः दोष यह होता है कि वे समझते हैं कि बड़ा भारी काम हाथ में ले लेना ही अच्छी तरह

काम करना है। वे समझते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को चटपट अर्जुन ही बनना चाहिए। वे यह नहीं सोचते कि जब तक नकुल और सहदेव न रहेंगे, तब तक अर्जुन में विशेषता क्या जान पड़ेगी? मेरा कहना यह है कि अच्छी तरह नकुल सहदेव बनना बुरी तरह अर्जुन बनने से अच्छा है। बढ़िया जूता बनाना, जो पैर में ठीक आवे, भद्दा पद्य बनाने से ज्यादा इज्जत की बात है। पुरानी कहावत है—

धीरज धरै सो उतरै पारा। नाहिं तो दौरि मुवै मँझधारा॥

तुम इसकी बहुत चिंता न करो कि तुम्हारी हैसियत वा स्थिति कैसी है। तुम्हारी हैसियत वा स्थिति चाहे जैसी हो, तुम उसे पुरुषार्थपूर्ण सात्विक व्यवहार तथा धर्माचरण की शोभा से अलंकृत करने का प्रयत्न करो। अपने उद्देश्यों में संयम रखो और अपनी वासनाओं को वश में करो। फिर देखो कि जो कार्य तुम्हारा होकर तुम्हारे पास आता है, जिसे तुम समझते हो कि तुम अच्छी तरह कर लोगे, वह तुम्हारी दृष्टि में तथा औरों की दृष्टि में कितने महत्त्व का जँचता है। संयमी बनो, किसी बात में अति न करो और इस बात का भी ध्यान रखो कि जिस प्रकार तुम बुद्धिमत्तापूर्वक उस कार्य में हाथ नहीं डालना चाहते जो तुम्हारी सामर्थ्य के बाहर है, उसी प्रकार औरों से भी बहुत अधिक की वांछा न करो। तुम न्यायी होकर भी उदारता लिए रहो और उदार होकर भी न्याय न छोड़ो। अपना मिजाज काबू में रखना सीखो।

अत्याचार, बेईमानी और बुराई देखकर पवित्र क्रोध से तमतमाना अच्छा है, पर हर घड़ी हर बात पर लाल पीले होते रहना मूर्खता है। बड़ों ने क्रोध को 'पाप का मूल' कहा है; अतः तुम ऐसा क्रोध करो जो पाप न हो। धीर और शांत वृत्ति से कार्य में सुगमता होती है। उससे इस बात का आभास मिलता है कि मन और बुद्धि ठिकाने है। हम दूसरों पर अपना ताव दिखानेवाले कौन होते हैं? बहुत से लोगों का नाक पर गुस्सा रहता है, जहाँ किसी ने कुछ कहा कि वे झल्लाए। साहियों की तरह उनके रोम रोम में काँटे होते हैं, जहाँ किसी ने कहीं हाथ रखा कि उँगलियाँ छिदीं। लोगों के साथ शांत व्यवहार करना सीखो। जीवन में जो बात आ पड़े, उसे धैर्य के साथ बिना कुछ कहे सुने सहन करो। तुम अपने चित्त की उस शांति को भंग न करो जो कर्तव्य-बुद्धि और परमात्मा के विश्वास पर निर्भर है। सहन करना और क्षमा करना जीवन का बड़ा भारी तत्त्व है और यह क्षमताशाली पुरुष के लिये कुछ कठिन नहीं है। क्षुद्र से क्षुद्र, दरिद्र से दरिद्र मनुष्य का जीवन भी धैर्य की मधुर शांति से उन्नत और श्रेष्ठ हो सकता है।

चौथा प्रकरण

आचरण

संसार में आचरण ही देखा जाता है। उसे हमारा आत्मबल निरीक्षण करने की न तो फुरसत है, न गरज। वह हमारे चरित्र ही को हमारे आत्मबल का आभास समझता है। इससे यह मतलब नहीं कि मनुष्य के कार्य्यों ही से सदा उसके हृदय की थाह मिलती है और उसकी बुद्धि, भावना तथा प्रवृत्ति का ठीक ठीक पता लगता है। प्राय: ऐसा होता है कि मनुष्य के कार्य्य या तो उसकी मनोवृत्ति को बहुत बढ़ाकर प्रकट करते हैं या छिपाते हैं। मनुष्य जैसा होता है, वैसा हम उसे समझते हैं। कौन मनुष्य कैसा है, यह हम उसके कार्य्यों को देखकर निश्चित करते हैं। अत: जो अपने को भला कहलाना चाहता है, वह भलों के अनुकूल अपना आचरण बनाता है। किसी के विषय में जो सम्मति यों ही मोटे तौर पर बिना उसके कर्मों के ब्योरे पर ध्यान दिए हुए स्थिर की जाती है, वह प्राय: अधूरी और कभी कभी अनुपयुक्त होती है। पर जहाँ तक मैं देखता हूँ, समाज के अधिकांश लोगों से इसके अतिरिक्त और दूसरे प्रकार की सम्मति की बहुत आशा भी नहीं की जा सकती। समाज से हम यह नहीं कह सकते कि कर्म पर विचार करते हुए वह उसकी नीयत की पूरी छान-बीन करे या उसकी अवस्था

को अच्छी तरह सोच समझकर कुछ निर्णय करे। यदि समाज किसी को गलीज में सना हुआ देखेगा तो यही समझेगा कि वह पनाले में गिरा था। यदि किसी भले आदमी को लोग दो चार लुच्चों के साथ देखेंगे तो वे अवश्य समझेंगे कि वह अपने को नष्ट कर रहा है, चाहे वह अपने मन को इस प्रकार भले ही समझा ले कि 'मैं जो काजल की कोठरी में अपनी सात्विकता की ज्योति को संसार से छिपाए हूँ, वह केवल इसलिये जिसमें उससे साफ निकलकर मैं और भी प्रशंसा प्राप्त करूँ'। पर इससे क्या होता है? संसार तो उसके चारों ओर फैली कालिमा ही को देखेगा, ज्योति न देखने जायगा। अस्तु; हमें अपने आचरण का ध्यान रखना चाहिए। हम चाहे बात बात में इसकी परवा न किया करें कि मुंशी तिरबेनीसहाय देखेंगे तो क्या कहेंगे, पर हमें इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मुंशीजी को हमारी यथार्थ विडंबना की कोई सामग्री न मिले। युवकों को अपने उद्देश्यों की निर्दोषता का निश्चय बहुत अधिक होता है, इससे उन्हें सावधान रहना चाहिए कि उनके कर्म निर्दोष हों और उन पर कोई किसी प्रकार का लांछन न लगा सके, बुरे भावों का आरोप न कर सके। युवकों में एक प्रवृत्ति और बहुत होती है। वे लोक-विरुद्ध कार्य्य करने में अपनी बड़ी बहादुरी समझते हैं, वे बँधी हुई रीति मर्य्यादा का बड़ी उमंग के साथ तिरस्कार करते हैं, वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पक्षमंडन

बड़ी धूमधाम के साथ करते हैं। पर, जैसा कि मिल* ने दिखाया है, एक व्यक्ति की स्वतंत्रता ऐसी न होनी चाहिए कि वह बहुतों की स्वतंत्रता में बाधा डाले। यदि स्वतंत्रता कुछ थोड़े ही से लोगों को प्राप्त हो जाती है, तो उस पर उनका इजारा हो जाता है और वे और लोगों की स्वतंत्रता में बाधक होने लगते हैं। समाज के नियम इसलिये बनाए गए हैं जिसमें उसके व्यक्तियों का संबंध परस्पर ठीक रहे। इससे जो उनका तिरस्कार करता है, उसे लाभ बहुत थोड़ा और हानि बहुत अधिक होती है। झक्कड़पन चाहे उतना बुरा न समझा जाय, पर लोगों को वैसा ही खलता है जैसा अत्याचार। उसे कोई अच्छा नहीं कह सकता। किसी शुभ कार्य वा मंगलोत्सव में किसी को काले कपड़े पहने देख लोगों का काँव काँव करना चाहे मूर्खता ही सही, पर ऐसे अवसरों पर कोई काले कपड़े पहनकर क्यों जाय? एक ग्रंथकार बहुत ठीक कहता है कि जो बंदर पालेगा, उसे वह सब नुकसान भरना पड़ेगा जो वह बंदर तोड़ फोड़कर करेगा। इसी प्रकार जो समाज की बँधी हुई रीति व्यवस्था को तोड़ेगा, उसे उसका परिणाम भोगना पड़ेगा।

इस पुस्तक में आत्मसंस्कार के लिये जो जो बातें बतलाई गई हैं, उन्हें अंगीकार करके यदि युवा पुरुष उन पर बराबर चलें तो फिर किसी को कुछ कहने सुनने की जगह न रहेगी।

---

* पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की "स्वाधीनता" देखो।

क्योंकि इस आत्मसंस्कार के अंतर्गत मनोवेगों के परिष्कार और बुद्धि के परिमार्जन का भी विधान है तथा जीवन में मनुष्य के जो जो कर्त्तव्य हैं, उनके पालन की भी व्यवस्था है। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि युवा पुरुष को अपने माता-पिता वा भाई के साथ कैसा होना चाहिए, उसे अपने नित्य के व्यवहारों का निर्वाह किस प्रकार करना चाहिए, तथा उसमें किस प्रकार के उद्देश्यों की प्रेरणा होनी चाहिए। उसके लिये यह बतलाया गया है कि वह घर में शांत और शुद्ध स्नेह की सुंदर व्यवस्था रखे, अवसर पड़ने पर किसी को अपनी मैत्री से वंचित न रखे, इसका ध्यान रखे कि दरिद्र, मूर्ख और पापी भी उनकी दया के पूर्ण अधिकारी हैं जो सब प्राणियों के प्रति अपना कर्त्तव्य निबाहना चाहते हैं। इतना ही नहीं, उसे यह भी समझाया गया है कि परमात्मा की ओर से उसे धरोहर की भाँति जो बड़ी बड़ी शक्तियाँ (इन्द्रिय, बुद्धि आदि) प्रदान की गई हैं, उनका वह पोषण और उपयोग करे। प्राय: हमें यह बड़ी देर में दिखाई पड़ता है कि हमारे हाथ में कैसा सुंदर अवसर है और हमें उच्च कर्त्तव्य और फलदायक त्याग के लिये कैसी मधुर वाणी आह्वान कर रही है। जब कि हम आलस्य की जँभाई लेते हुए मार्ग पर चुपचाप खड़े अपना प्रारब्ध ही खोटा समझते हैं, उच्चाशय लोग आशा-पूर्वक आगे की ओर दृष्टि फैलाते हैं और कर्त्तव्य-पालन का पवित्र अवसर पाते ही उनकी ओर झुक पड़ते हैं। आत्म-

संस्कार के कार्य्य को यदि हम ठीक ठीक समझेंगे, तो हममें हाथ में आए अवसरों से लाभ उठाने की प्रवृत्ति होगी, हमारी आँखें खुल जायँगी और हमारे कान खड़े हो जायँगे। इस प्रकार हमारा आचरण एक धार्मिक पुरुष का सा हो जायगा और हमें अपने वर्त्तमान और भविष्य के कर्त्तव्य का बोध हो जायगा।

अपना ऐसा भव्य और सुंदर आगम देखकर युवा पुरुष को ऐसा जीवन व्यतीत करने का उत्साह होगा जो परमात्मा के अनुकूल हो और जिससे लोक का हित हो। वह आप तो बराबर उन्नति करता ही जायगा, दूसरों को भी ज्ञान, औदार्य और धर्म में उन्नति करने में सहायता देगा। वह लोक में जो कुछ सत्य, सुंदर और पवित्र होगा, उससे प्रेम करेगा और इसमें तनिक भी लज्जित न होगा। वह काव्य और कला के उत्कृष्ट भावों तथा विज्ञान के प्रखर तत्त्वों को हृदयंगम करेगा। उसके अपने नित्य के व्यवहार में एक प्रकार का पुनीत उत्साह रहेगा जो उसके विचारों को उन्नत करेगा, भावों को पवित्र करेगा और परिश्रम को सफल करेगा। वह अपने धर्म-संबंधी कर्त्तव्य और आचार का पालन विनीत, श्रद्धालु और दंभ-शून्य होकर करेगा, धर्मध्वजी न बनेगा। वह धर्म को सदाचार का मूल मानकर उस पर दृढ़ रहेगा और मनुष्य तथा सृष्टि के पदार्थों की प्रकृति में परमेश्वर की सर्वव्यापिनी उदारता और बुद्धि का प्रकाश देखेगा। इस प्रकार आत्मसंस्कार के आदर्श को उन्नत करता तथा सच्चे पुरुष के समान श्रेष्ठ

जीवन के हेतु प्रयत्न करता हुआ वह ईश्वराराधन को अपना बड़ा भारी बल और सहारा समझेगा और सब बातों में उस परमात्मा की ओर देखेगा जो सदा उन लोगों के हृदय में प्रेरणा किया करता है, जो उसकी इच्छा के अनुकूल चलना चाहते हैं। ईश्वराराधन के बिना आत्मसंस्कार एक ढकोसला मात्र होगा; क्योंकि परमात्मा ही की प्रेममयी भावना के अवलंब पर आत्मा अपनी उन्नति के साधन में आशा और उत्साह के साथ प्रवृत्त होती है।

अब हम नित्य प्रति के लौकिक व्यवहारों की ओर आते हैं। यहाँ युवा पुरुषों के आचरण के लिये कुछ नियम निर्धारित किए जा सकते थे, पर मैंने उन साधारण सिद्धांतों ही का उल्लेख ठीक समझा है जो जीवन के समस्त उचित कर्म्मों तथा उद्देश्यों पर घटते हैं। इन सिद्धांतों को कहाँ किस प्रकार व्यवहार में लाना चाहिए, यह मैंने प्रत्येक पाठक पर छोड़ दिया है। जो युवा पुरुष आत्मसंस्कार ऐसे महत्कार्य में प्रवृत्त होगा, उसे यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि सब काम ठीक समय पर करना चाहिए, पूरा परिश्रम करना चाहिए। वह असावधानी और टालमटूल की बुराइयों को अच्छी तरह समझेगा। अतः हम इससे थोड़ा आगे बढ़ते हैं। युवा पुरुष को जीवन के कार्य्यों को आरंभ करते ही, जीवन के मार्ग पर पैर रखते ही, रुपए की कदर समझ लेनी चाहिए। यह समझ बहुतों को बहुत कुछ दुःख उठा चुकने पर आती है, जब कि

सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है और सारे हौसले पस्त हो जाते हैं। रुपए को लोग हाथ की मैल कहते हैं, पर यह मैल यदि मान-मर्य्यादा और औचित्य के साथ प्राप्त और वितरित की जाय तो निस्संदेह बड़े महत्त्व की वस्तु है। चाहे हम उदारतापूर्वक लोभियों का तिरस्कार करें, चाहे हम ऐसे लोगों से उपयुक्त घृणा करें जो रुपया पैदा करना ही अपने अविश्रांत और असंतोषपूर्ण प्रयत्नों का एक मात्र उद्देश्य समझते हैं और "सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंति" के पूरे समर्थक हैं, पर द्रव्य की उपयोगिता को हम किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकते, न यह कह सकते हैं कि सच्चे प्रयत्न करनेवालों को द्रव्य से वंचित रहना चाहिए। विरक्त लोग धन को तुच्छ समझें तो समझ सकते हैं, पर गृहस्थ के लिये धन बड़ी भारी शक्ति है, भलाई करने का बड़ा भारी साधन है। यह दुर्बलों में बल ला सकता है, पीड़ितों का उद्धार कर सकता है, अनाथ बालकों के मुख पर प्रफुल्लता ला सकता है और दुखिया विधवाओं के आँसू पोंछ सकता है। धन का सदुपयोग करो, दुरुपयोग न करो। अपनी बुद्धि उसमें लगाओ, पर अपनी मनोवृत्तियों को उसके अधीन न करो। बहुतेरे नवयुवक रुपए के संबंध में बड़ी असावधानी प्रकट करते हैं और गहरी लापरवाही के साथ इधर उधर उसे उड़ाते हुए कहते हैं कि वह तो हमारे हाथ में ठहरता ही नहीं। पर इस प्रकार की बेपरवाही से चाहे आशय की उच्चता प्रकट हो, पर ऋण की नौबत आती है और ऋण से अनेक

प्रकार के कष्ट होते हैं। आत्मसंस्काराभिलाषी युवक के लिये ऋणी रहना किसी प्रकार ठीक नहीं। यदि वह ऋणी रहेगा, तो उसका चित्त किसी घड़ी चिंता से मुक्त ही न रहेगा, पुस्तकों की ओर क्या जायगा। बाबू हरिश्चंद्र रुपए पैसे के मामले में बहुत असावधान रहे, जिसके कारण उनके जीवन का पिछला भाग बहुत किरकिरा हो गया। इँगलिस्तान का प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ सदा ऋण का कष्ट भोगा करता था। उसने अपने भाई को बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में लिखा था—"अपने लड़के को किफायत करना सिखलाओ। उसके सामने इधर उधर मारे मारे फिरनेवाले उसके दरिद्र चचा का दृष्टांत रखो। इसके पहले कि मैं अनुभव द्वारा दूरदर्शिता की आवश्यकता को जान लेता, मैंने पुस्तकों के द्वारा उदार और निःस्वार्थ होना सीखा। इधर तो मैंने तत्त्वदर्शियों की सी टेव पकड़ी, उधर चालबाजों की बन आई। साधारण वित्त का मनुष्य होकर भी कभी कभी मैंने दान में अति कर दी। मैं न्याय की रीति भूल गया और मैंने अपनी दशा भी उन्हीं अभागों की सी कर डाली जिन्होंने मेरा कुछ भी उपकार न माना।" यदि कोई युवा पुरुष निरंतर सुखपूर्वक निर्वाह करना चाहता हो तो उसे अपनी आमदनी से कम खर्च करना चाहिए। यदि वह उसके बराबर खर्च करेगा तो कुछ दिनों में उससे अधिक खर्च करने लगेगा। फिर क्या है, उसके ऊपर पहला ऋण होगा, कुछ दिन बीतते बीतते दूसरा

होगा, तीसरा होगा, इसी प्रकार ऋण पर ऋण होता जायगा और उसका तार जिंदगी भर न टूटेगा। ऋण एक नाले के समान है, जो ज्यों ज्यों आगे चलता है त्यों त्यों बढ़ता जाता है। सब से बुरी बात ऋण में यह है कि जिसे ऋण का अभ्यास पड़ जाता है, उसकी धड़क खुल जाती है; उसे आगम का भय नहीं रह जाता और जब तक उसका नाश नहीं हो जाता, तब तक वह विष का घूँट बराबर पिए जाता है। यदि उसका ऐसा चित्त हुआ जिसमें बात जल्दी लगती हो, तो वह चैन से न रह सकेगा, ऋण के बराबर बढ़ते हुए बोझ से दबकर छटपटाया करेगा।

मैं यह नहीं मानता कि आत्म-संस्कार में निरत युवा पुरुष के लिये निर्धनता कोई बड़ी भारी बाधा है, उसमें भी आजकल जब कि लिखने-पढ़ने के सामान इतने सस्ते हैं और ज्ञान के मार्ग का बहुत कुछ कर उठा दिया गया है। पहली बात तो यह है कि निर्धनता परिश्रम की बड़ी भारी उत्तेजक है, इतनी बड़ी उत्तेजक है कि पैथागोरस कहता है कि "योग्यता और अभाव दोनों का साथ है"। हमारे यहाँ के अधिकांश तत्त्व-वेत्ता और कवि निर्धन मनुष्य थे। सूर, तुलसी, जायसी, गौतम, कणाद आदि धनाढ्य पुरुष नहीं थे। जायसी में बहुत कुछ आत्म-बल उनकी निर्धनता के कारण था। उनके विषय में एक जन-श्रुति है कि उन्हें एक बार जौनपुर के बाद-शाह ने बुलाया। जब वे बादशाह के सामने गए, तब बाद-

शाह उनके काले रंग और कानी आँख पर हँसा। जायसी ने चट कहा—"मटियहि हँसेसि कि कोहरहि ?" बहुत से विद्वान् ऐसे हुए हैं जो तत्त्व-चर्चा में मग्न रहते थे और समय पर जो कुछ रूखा सूखा मिलता था, खाकर रह जाते थे। दूसरी बात यह है कि निर्धनता से मनोवेगों का संस्कार होता है। इसके द्वारा हम सहानुभूति और सहिष्णुता सीखते हैं, दूसरों को उसी दुःख में देख, जो हम स्वयं भोगते हैं, हम उन पर दया करना सीखते हैं। यह बहुत प्रसिद्ध कहावत है—"जाके पाँव न फटी बेवाई। सो का जानै पीर पराई"। तीसरी बात यह है कि निर्धनता हमें प्रलोभनों में फँसने के साधनों से दूर रखती है और इस बात के लिये हमें विवश करती है कि हम प्रकृति-निरीक्षण और पुस्तकावलोकन का आनंद लें। पर निर्धनता का प्रभाव कुछ लोगों पर इसका उलटा भी पड़ता है। इससे उनका चित्त कठोर और संकुचित हो जाता है और उन्हें बहुत सी बातों के करने में आगा-पीछा नहीं रह जाता। यदि ऐसे मनुष्यों को अपव्यय और दुर्व्यसन के कारण ऋण का भी चसका हुआ, तो उनके सारे आचार-विचार पर पानी फिर जाता है और वे दिन दिन बुराइयों के गड्ढे में गिरते चले जाते हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि वह बल और उत्साहप्रदायिनी निर्धनता, जिसमें पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने इतना साधु प्रयत्न किया, उस निंदनीय और शक्तिघातिनी निर्धनता

से भिन्न है जिसमें भारतेंदु हरिश्चंद्र, माइकेल मधुसूदन दत्त और मिर्जा गालिब आदि ने अपव्यय के कारण अपने दिन बिताए। बात तो यह है कि तुम अपनी जीवन-यात्रा चाहे गरीब के मोटे कपड़े पहनकर आरंभ करो, चाहे अमीर के रेशमी और कामदार कपड़े पहनकर, तुम्हें किफायत का ध्यान रखना चाहिए और मितव्ययी होकर ऋण के प्रेत को दूर ही रखना चाहिए।

ऋण के मुख्य रूप से चार कारण बतलाए जाते हैं, कपड़ा लत्ता, जूआ, तड़क भड़क और आमोद प्रमोद। जिसने आत्मसंस्कार का उच्च व्रत लिया हो, उसे इनमें से किसी के जाल में न फँसना चाहिए। कपड़े लत्ते ही को लो। थोड़े ही से खर्च में तुम अपना रूप-रंग दस भले आदमियों के पास मर्यादापूर्वक बैठने के योग्य बना सकते हो। मैं यह नहीं कहता कि तुम विरक्तों के समान कपड़े लत्ते की कुछ परवा ही न रखो और फटे पुराने चिथड़े लपेटे रहो। अपनी मर्यादा के लिये यह बहुत आवश्यक है कि हमारे कपड़े लत्ते ऐसे भद्दे और गँवारू न हों कि चारों ओर लोग उँगलियाँ उठावें, पर पहनावे आदि के विषय में बस इतनी ही बात का ध्यान रखना बहुत है। कोट की काट-छाँट, पायजामे के चढ़ाव-उतार, टोपी की सज-धज आदि के विषय में प्रवीणता दिखाने और तर्क वितर्क करने के लिये फैशन के गुलाम शोहदों और छिछोरों ही को छोड़ देना चाहिए। हम लोगों को तो इनसे

अधिक महत्त्व की बातें सीखनी हैं, इनसे अधिक उद्देश्यों का साधन करना है। सादगी, सफाई और सुडौलपन पहनावे के विषय में ये ही तीन बातें हमारे ध्यान रखने की हैं, इनका चाहे हम जितना ध्यान रखें, हमें ऋण न लेना होगा।

जूए के विषय में बहुत क्या कहा जाय? युवा पुरुषों के लिये इस बुराई में फँसना अब उतना सुगम नहीं है। सरकार ने जूएखाने बंद कर दिए हैं जिनमें न जाने कितने अभागों के घर सत्यानाश हो गए हैं। पर जूए की प्रवृत्ति जिसमें हो जाती है, वह उसके हजारों ढंग निकाल लेता है। इस प्रवृत्ति को आरंभ ही में दबाना चाहिए। नवयुवकों को यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि हम किसी प्रकार की बाजी न लगावेंगे वा चिट्ठी आदि न डालेंगे। उन्हें घुड़दौड़ इत्यादि की बाजी से कोसों दूर रहना चाहिए। आजकल के समय की बड़ी भारी बुराई चटपट अमीर हो जाने तथा बिना कामधंधा किए रुपया पैदा करने की इच्छा है। पर यदि तुमने इस प्रकार की इच्छा से अपना रुपया बिना समझे बूझे धूर्तों के खड़े किए हुए नकली कारबार में लगाया था चौगुना सूद देनेवाले दिवालिए बंकों में रखा, तो समझ रखो कि झूठी आशा मात्र पर तुमने अपना सर्वस्व गँवाया और बैठे बैठाए अपने ऊपर दुःख का अंधड़ बुलाया। इस संसार में असावधान तथा आगा पीछा न सोचनेवाले लोगों के लिये धूर्तों का दरवाजा चौबीसों घंटे खुला है। धन की 'हाय हाय' में पुरुष अपनी

मर्य्यादा गँवाते हैं और स्त्रियाँ अपनी स्वाभाविक मृदुलता से हाथ धोती हैं। आत्मसंस्कार की अभिलाषा रखनेवाले युवक को भी यदि यह भयानक रोग लग गया, तो बड़े ही दुर्भाग्य की बात है। फिर उसे आत्म-संस्कार की सारी आशा छोड़ देनी चाहिए, सादी रहन और ऊँचे विचार रखने का सारा संकल्प हृदय से निकाल देना चाहिए। एक प्रभाव-शाली लेखक लिखता है—"धन की यह प्रबल वासना इस अति को पहुँच गई है कि इसके कारण हम जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक सुख का कुछ अंदाज ही नहीं पाते। जब कि हमने उसको, जो साधन मात्र है, महत्तम उद्देश्य बना डाला, जब कि उसकी कामना जिससे कुछ शारीरिक सुख सुलभ हो, धर्म और ज्ञानसंपत्ति की कामना से कहीं अधिक गहरी हो गई, तब इसके सिवा और होना ही क्या है? फिर तो हम धनी होने ही के लिये जीवन-निर्वाह करते हैं, जीवन-निर्वाह करने के लिये धनी नहीं होते। केवल वर्षों का बीतना ही जीवन नहीं है। खाना पीना और पड़े रहना, शीत घाम सहना, अभ्यासानुसार धन के कोल्हू में नधे नधे आँखें मूँदकर चक्कर काटना, बुद्धि को बही-खाते और विचारों को व्यवसाय की जिन्स बनाना—इन्हीं बातों को जीवन नहीं कहते। इतने में तो मानव-जीवन की सज्ञानता का बहुत ही क्षुद्र अंश जाग्रत् होता है और वे उच्च वृत्तियाँ सुषुप्ति अवस्था में रहती हैं जिनके कारण जन्म सफल होता है। ज्ञान, सत्य, प्रेम,

सौंदर्य, विश्वास, सद्गुण आदि ही से जीवन में यथार्थ शक्ति आती है। आनंद की हँसी, जो कलेजे की कली को खिला देती है, आँसू जो हृदय को आर्द्र कर देते हैं, संगीत जो थोड़ी देर के लिये हमारी बाल्यावस्था फेर लाता है, ईश्वराराधन जो हमारा आगम हमारे निकट लाता है, शंका जो चित्त में विचार उत्पन्न करती है, मृत्यु जिसका रहस्य हमें चकित करता है, बाधाएँ जो हमें प्रयत्न करने को विवश करती हैं, व्यग्रता जो अंत में हमें आशा बँधाती है तथा इसी प्रकार की और जो बातें हैं, वे ही हमारी स्वाभाविक स्थिति का पोषण करनेवाली हैं। पर ऐसी बातों से जो मानव-जीवन की नस नस में घुसी हुई हैं, धन के लोलुप सदा दूर भागते फिरते हैं। उन्हें ऐसी बातों की चाह नहीं जो नित्य और सार-रूप चेतन से संबंध रखती हैं। वे परमार्थ से चित्त को हटाकर स्वार्थ में लीन होते हैं। वे जीवन के सच्चे और स्वाभाविक व्यापारों से जीविका की चिंता का बहाना लेकर भागते हैं और जीवन-निर्वाह के लिये तैयारी ही करते मर जाते हैं।''

ऋण का तीसरा कारण मैंने दिखावट वा ठाट-बाट बतलाया है। हम अपने को ऐसे प्रकट करना चाहते हैं जैसे हम वास्तव में नहीं हैं। हम अपने साथियों से अपने को बढ़कर दिखाना चाहते हैं, हम अपव्यय में उनसे बढ़ चढ़कर रहना चाहते हैं और भ्रति करने में उनसे पीछे नहीं रहना

चाहते। मैं बहुत से ऐसे युवक पुरुषों को जानता हूँ जिन्होंने इस घोर वासना के वशीभूत होकर अपना प्रारंभिक जीवन किरकिरा कर दिया। पहले तो वे 'बड़े आदमियों' की संगत में मिले। वहाँ उन्होंने देखा कि उनके साथी अच्छे अच्छे कपड़े पहनते हैं और ज्यादा खर्च वर्च रखते हैं। अतः अपने सद्गुण और आचरण के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के स्थान पर वे अपने मित्रों से उन्हीं का सा ठाट-बाट बनाकर मिले और संसार पर यह प्रकट करके उनकी बराबरी का दावा करने लगे कि "हम भी तुम्हारे उन्हीं के इतना या उनसे अधिक खर्च रखते हैं।" वाह! मनुष्यों की परस्पर छोटाई बड़ाई वा बराबरी की क्या अच्छी माप है! यदि मटरूमल इतना अधिक खर्च रखते हैं जितने की घासीराम की समाई नहीं, तो मटरू-मल चाहते हैं कि घासीराम हमारी प्रशंसा करें। पर इस प्रकार की दिखावट गँवारपन और बेईमानी है। कोई भला आदमी झूठा आडंबर रचकर अपनी प्रतिष्ठा कराना नहीं चाहता। कोई भला आदमी अपने को उससे अधिक नहीं प्रकट करना चाहता जितना वह वास्तव में है। प्रत्येक समाज इस प्रकार के लुचों की भरपूर खबर लेता है। वह मनुष्य जो ऊपरी ठाट-बाट और रंग-ढंग दिखाकर अपनी धाक बाँधना चाहता है, निस्संदेह नीच है। ऐसों की समाज में बड़ी निंदा होती है।

बड़े बड़े खर्चों के आमोद-प्रमोद में लीन होने से भी बहुधा ऋण होता है। तुम कहोगे कि युवा पुरुषों के लिये कोई न

कोई आमोद-प्रमोद तो अवश्य चाहिए। ठीक है, पर जो आमोद-प्रमोद दिन दिन दुःख के समुद्र में ढकेलता जाय, वह किसी काम का नहीं। यदि तुम्हारी औकात इतनी नहीं है कि तुम थिएटर देखने जाओ, बड़े बड़े भोज दो, नाच रंग का सामान करो, तो तुम अपने मन-बहलाव की ऐसी बातें निकालो जिनमें खर्च कम हो। एक छात्र ने एक बार मुझसे कहा था कि मैं अपना मन-बहलाव किफायत में अच्छी तरह कर लेता हूँ। बात भी ठीक है। सरकारी अजायबघर हैं, चित्रशालाएँ हैं, विज्ञानालय है, जहाँ थोड़ी देर चले जाने में कुछ नहीं लगता। जब जी चाहे सितार, हारमोनियम आदि से जी बहलावे, जंगल, पहाड़ वा मैदान की ओर निकल जाय और प्रकृति के सौंदर्य्य का आनंद ले। यदि मन ही बहलाना है तो उसके सौ ढंग हैं। किफायत से रहनेवाले आदमी के लिये मन-बहलाव की कमी नहीं है। यदि खेल की रुचि हो तो गेंद, चौगान आदि कम खर्चवाले खेलों से बिलियर्ड आदि कीमती खेलों की अपेक्षा स्वास्थ्य को अधिक लाभ है। संध्या के समय नदी के किनारे टहलने से जितना चित्त प्रफुल्लित होता है, उतना ठाट-बाट के साथ मेलों में धक्का खाने से नहीं। क्या ही अच्छा हो, यदि कोई मनुष्य जिसे पूरी जान-कारी हो, कोई ऐसी छोटी पुस्तक लिखे जिसमें लोगों के लिये कम खर्च में होनेवाले आमोद-प्रमोद का विधान हो। इस प्रकार की पुस्तक बड़े मजे की और बड़े काम की होगी।

किसी के लिये कोई मन-बहलाव बतलाने में सबसे पहले यह आवश्यक है कि उसकी रुचि का, यदि वह शुद्ध और सात्विक है, विचार किया जाय। नीत्युपदेशकों का प्रथम कर्तव्य यह है कि वे किफायत के लाभों को जोर देकर समझावें। किफायत सुख, स्वतंत्रता और पूर्णता की जननी तथा संयम, स्वास्थ्य और प्रफुल्लता की सहगामिनी है। मैं यह बात आग्रहपूर्वक कहता हूँ कि प्राकृतिक सौंदर्य का प्रेम ज्ञान का प्रधान अंग है। मनुष्य की वृत्ति और आचरण पर भी इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के लिये यह आनंद का अक्षय्य स्रोत है। सृष्टिकर्त्ता का सारा भाव इसकी सृष्टि में है। जो प्रत्येक फूल को देखकर प्रफुल्लित होता है, जिसे प्रत्येक झरने में आनंद की ध्वनि सुनाई पड़ती है, वह कभी श्रांत और उदास नहीं रह सकता। वह चाहे जहाँ रहे, उसे कोई न कोई वस्तु ऐसी मिल जायगी जिससे उसका मनोरंजन होगा, जिसमें उसका चित्त रमेगा, जो उसके अंत:करण के मर्म को स्पर्श करेगी। चाहे कोई ऋतु हो, वह अपने चारों ओर सुंदर और विचित्र पदार्थों की सजावट देखेगा। प्रकृति देवी के समक्ष अपना हृदय भर खोलना चाहिए; फिर तो वह अपनी विभूति का ऐसा शुभ मंत्र फूँकेगी जिससे बुरे विचार हवा हो जायँगे और सारी उदासी उड़ जायगी। प्रकृति के भाव में कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति है जो हमारी कुवृत्तियों को दबा देती है। पर्वतों की शांत और मनोहारिणी छटा के सामने

जाकर, समुद्र की रहस्यमयी भीषण वाणी को सुनकर कोई अपने कृत्रिम सांसारिक भावों को स्थिर नहीं रख सकता। उसकी बुद्धि निस्संदेह भ्रष्ट है, उसका हृदय अवश्य कलुषित है जो उस समय भी अपनी सांसारिक कुवासनाओं को नहीं छोड़ सकता जब कि कोकिल का मनोहर कंठनाद आकाश से रस-बिंदु टपकाता है और प्रभात का शीतल समीर कुसुमित-कानन का सौरभ लिए मंद मंद चलता है। आत्म-संस्कार में प्रकृति का अध्ययन भी सम्मिलित है जिससे कल्पना और बुद्धि को शुद्ध और उन्नत करनेवाली एक अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य की आत्मा के लिये उससे बढ़कर भाव और कहाँ से आवेगा जो उसे वन, पर्वत, समुद्र और नक्षत्रों से प्राप्त होता है, जो उसे नदी-तट की फूली हुई झाड़ियों तथा मंद और अखंड गति से बहते हुए झरनों में दिखाई देता है? प्रकृति के पास जाओ और सब कुछ लो। संगीत लो। हरी हरी घासों के बीच बहते हुए नालों के कलकल में और उड़ते हुए पक्षियों के स्वर में कैसा सुंदर आलाप भरा है, कैसी सुंदर तान सुनाई देती है! पृथ्वी पर से जीवों की मिलित ध्वनितरंग उठकर कैसे अलौकिक संगीत का सुर भरती है! कला-चातुरी लो। कला भी प्रेरणा के लिये प्रकृति ही का मुँह ताकती है। प्रकृति ही से वह रंग और आकृति के विचित्र विचित्र मेल लेती है। विज्ञान लो। प्रकृति ही उसका मूल आधार है, प्रकृति ही उसका उद्गम स्थान है। प्रकृति ही से वैज्ञानिक विचारों

का आविर्भाव और प्रकृति ही से समाधान होता है। हरे भरे कछारों, श्यामल अमराइयों, लहलहाते खेतों में जो मधुर और कोमल शक्ति है, वह और कहाँ पाई जा सकती है? गगनभेदी हिममंडित गिरि-शिखर से बढ़कर भव्य प्रभाव और किसका पड़ सकता है? विविध छायाओं और ज्योतियों से विभूषित सागर के अपार विस्तार से बढ़कर चमत्कार और कहाँ देखने को मिल सकता है? यहाँ पर मैं कला-कोविद रस्किन नामक प्रसिद्ध अँगरेज ग्रंथकार के कुछ शब्द बिना उद्धृत किए नहीं रह सकता—"यह एक शांत और शुभ प्रभाव है जो अज्ञात रूप से हृदय में प्रवेश करता है। यह चुपचाप बिना किसी प्रकार का उद्वेग उत्पन्न किए फैलता है। इसको ग्रहण करने में किसी प्रकार का खटका या किसी प्रकार की उदासी नहीं होती। इससे उग्र मनोवेग नहीं उभरते। यह मनुष्यों के मत-मतांतर से अक्षुण्ण और अंधविश्वास से निर्लिप्त रहता है। यह सीधा कर्त्ता के हाथ से छूटकर आता है और उस परमात्मा के सामीप्य का आभास लिए हुए जगमगाता है। यह आकाश-मंडल में खचित दिखाई पड़ता है। यह प्रत्येक नक्षत्र से आभासित होता है। यह उड़ते हुए मेघखंड और अलक्ष्य पवन में रहता है। यह पृथ्वी की पहाड़ियों और घाटियों में रहता है जहाँ तृण-गुल्म-शून्य शिखर चिर-तुषार-पूर्ण वायु को स्पर्श करते हैं, जहाँ निविड़ कानन के बीच प्रचंड वायु के झोके खाकर हरी

हरी पत्तियाँ लहरें मारती हैं। यह प्रभाव आकुल समुद्र के अपार वक्षःस्थल पर सुबोध भाषा में अंकित मिलता है। यही प्रकृति का काव्य है। यही हमारी आत्मा को सहारा दे देकर ऐसा दृढ़ कर देता है कि वह सारी भव-बाधाओं को कुछ नहीं समझती। यही हमारे उस बंधन को, जो हमें भौतिकता से बद्ध रखता है, क्रमशः तोड़कर हमारी कल्पना के सामने आध्यात्मिक सुंदरता और पवित्रता का एक विश्व उपस्थित करता है।" मित्रो! तुम इस प्रभाव को अपनाओ, फिर देखो कि तुममें इतना बल आ जायगा कि तुम कालक्रम के अनुसार आनेवाली आपदाओं और जीवन को अव्यवस्थित करनेवाले संकटों को कुछ भी न समझोगे। यदि तुम थके होगे तो यह तुम्हें विश्राम देगा; यदि दुखी होगे तो ढारस देगा। यही एकांत में तुम्हारा सच्चा और शुद्ध साथी होगा। यही तुम्हारे उस परब्रह्म के ज्ञान और आनंद के रहस्य को खोलेगा, प्रकृति जिसका ऊपरी आच्छादन मात्र है। यही तुम्हारे आगे उस नीच वृत्ति की घोरता को प्रत्यक्ष करेगा, जिसके वश में होकर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को खाने के लिये तैयार रहता है। यही तुम्हारे हृदय में उन उच्च भावों का समावेश करेगा जो हृदय को दुर्बल नहीं होने देते और आत्मा को मोह-निद्रा नहीं लेने देते।

मनुष्य का आचरण बहुत कुछ उसके जीवन के उद्देश्य पर निर्भर रहता है। भूमि पर रेंगनेवाले कीड़े को ऊपर की

वायु के सुहावनेपन का क्या अनुमान हो सकता है ? यदि मनुष्य का संकल्प बहुत क्षुद्र है, तो उसे पूरा करने में शायद कुछ प्रयत्न न करना पड़े। पर प्रयत्न वा चेष्टा ही की प्रेरणा से मनुष्य में क्षमता आती है और उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ उन्नत होती हैं। यदि हम श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करना चाहते हों, तो हमें चाहिए कि हम अपना उद्देश्य श्रेष्ठ रखें, हम अपना आदर्श उच्च रखें। जब एक बार हम अपने हृदय में अपना आदर्श यह सोचते हुए स्थिर कर चुकें कि हम उसे अवश्य प्राप्त करें, हमारा जीवन उसके अनुरूप अवश्य हो, तब हम धीरे धीरे उस आदर्श तक पहुँच ही जायँगे और हममें नित्य प्रति मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति दिखाई पड़ेगी। फल वा पुरस्कार की उच्चता के अनुसार ही प्रयत्न को उच्चता प्राप्त होती है, यद्यपि प्रयत्न का आनंद फल के आनंद पर निर्भर नहीं रहता। लड़ाई में सिपाहियों को जो बड़े बड़े तमगे दिए जाते हैं, उनके कारण प्रत्येक वीरोचित कर्म्म में एक नवीन और मनोहर कांति आ जाती है। वह सैनिक जो वीरत्व का कोई बड़ा चिह्न प्राप्त करने पर उद्यत होगा, अपने और साथियों से कहीं बढ़कर साहस और वीरता दिखावेगा। उसकी आत्मा वीरता की उतनी मात्रा तक क्रमशः पहुँचती जायगी जितनी उस पदक की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। अतएव प्रकृति की नम्रता और व्यवहार की विनीतता का उपदेश देते हुए भी मैं यही चाहता हूँ कि

युवा पुरुष अपने अपने लक्ष्य उच्च रखें। यदि वे ऐसा करेंगे तो बहुत संभव है कि वे उससे बढ़कर दाँव मारेंगे। वारेन् हेस्टिंग्ज (भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल) ने यही संकल्प करके जीवन के कार्य्य-क्षेत्र में पैर रखा था कि अपनी पुरानी जमींदारी फिर प्राप्त करेंगे। उन्होंने अपना यह संकल्प तो पूरा ही किया; इससे बढ़कर और भी बहुत कुछ किया—उन्होंने भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव स्थिर कर दी और अपने समय के राजनीतिज्ञों में उच्च स्थान प्राप्त किया। यह मैं मानता हूँ कि उनका उद्देश्य बहुत उच्च नहीं था; क्योंकि केवल स्वार्थपूर्ण उद्देश्य उच्च नहीं हो सकता। आत्म-संस्कार के इच्छुक युवा पुरुष इससे अधिक विशद जीवन की ओर लक्ष्य रख सकते हैं, इससे अधिक ऊँचे उद्देश्य हृदय में धारण कर सकते हैं। उन्हें अपने विचारों को विस्तृत करना चाहिए, उन्हें आगम का भी ध्यान रखना चाहिए। उन्हें यह समझकर कि उनके अधिकार में केवल यह काल-बद्ध जीवन ही नहीं बल्कि अमरत्व भी है, मनुष्य-जन्म को सफल करनेवाले कार्य्यों और उद्देश्यों में रत होना चाहिए। इस विस्तृत संसार में प्रत्येक मनुष्य के लिये कोई न कोई शुभ कर्म्म है। उसे उत्कंठा-पूर्वक उसको ढूँढ़ निकालना तथा सच्चे कर्म्मनिष्ठ की भाँति उसमें तत्पर हो जाना चाहिए। इस संसार में बहुत कम लोगों को उच्च लक्ष्य रखने के कारण विफलता होती है, अधिकांश लोगों का जीवन क्षुद्र लक्ष्य रखने के कारण क्षुद्र

हो जाता है। एक बार जब कि मैं छोटा था, अपने शिक्षक से निशाना लगाना सीख रहा था। शिक्षक ने मुझसे कहा—"निशाने से ऊपर मारो, नहीं तो खाली जायगा।" उनके इस कथन में बड़ा भारी उपदेश भरा था। इसी उपदेश पर ध्यान रखने का मैं पाठकों से अनुरोध करता हूँ। तुलसीदासजी ने जो इतनी बड़ी रामायण लिख डाली, वह इस कारण कि उन्होंने आरंभ ही से कोई "पचासा" वा "चालीसा" लिखना नहीं ठाना था, बल्कि ऐसा महाकाव्य लिखने का संकल्प किया था जो सदा अमर रहेगा। रविवर्म्मा क्या कभी ऐसे भावपूर्ण और सुंदर मुखड़े चित्रित कर सकते, यदि वे मैनाबाई और हीरा बाई की बाजारू तसवीरें ही बना लेना अपने लिये बहुत समझते? क्या प्रसिद्ध मूर्त्तिकार म्हातरे संगमर्मर की ऐसी ऐसी सजीव मूर्तियाँ गढ़ सकते, यदि उनकी टाँकी काली और भैरव की भद्दी प्रतिमाओं ही तक रह जाती? नहीं, कदापि नहीं। जैसा संकल्प होगा, वैसा ही कार्य होगा; जैसा जीवन का उद्देश्य होगा वैसा ही आचरण होगा। हमारे हृदय को सदा ज्ञान का लोलुप होना चाहिए। ज्ञान हमारा उद्देश्य होना चाहिए—ज्ञान भी ऐसा जो कर्त्तव्य-साधन में हमें समर्थ करे। इस ज्ञान की खोज में ज्यों ज्यों हम नित्य नई नई भूमियों को प्राप्त होते जायँगे, त्यों त्यों हमें ऐसा आनंद होता जायगा जो भद्दे विचार के लोगों को स्वप्न में भी सुलभ नहीं। जो आत्मसंस्कार के बल से प्रेरित और उत्तेजित है, उसके

लिये विपत्ति का जंजाल और संपत्ति का प्रलोभन क्या है? वह स्वानुभूति का सुख अनुभव करता है। विपत्ति उसे घेर सकती है, पर उसकी आत्मा की अटल स्वच्छंदता को नष्ट नहीं कर सकती। उसके कठिन और कड़ुए दिन आ सकते हैं, पर जिस दृढ़ता के साथ वह अपने उद्देश्यसाधन में तत्पर रहता है, उसमें वे किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकते। यह हो सकता है कि कार्य्य करने के लिये उसके पास साधन अल्प हों, पर वह जो कार्य्य करेगा, उसमें कार्य्यकर्त्ता के पवित्र भाव का आभास मिलेगा। इटली के एक प्रसिद्ध चित्रकार से एक सरदार ने पूछा—"भाई! तुम जो रमणियों के ऐसे मनोहर भावपूर्ण मुख अंकित करते हो, उनके आदर्श कहाँ से पाते हो?" चतुर चित्रकार ने यह कहकर कि मैं अभी बताता हूँ, एक भद्दी ग्रामीण स्त्री को बुलाया और उसे आकाश की ओर मुँह उठाकर बैठ जाने को कहा। उसके बैठ जाने पर उसने झट प्रार्थना में रत एक अत्यंत सुंदरी रमणी का भावपूर्ण चित्र खींच डाला और सरदार की ओर फिरकर कहा—"पवित्र और सुंदर भाव चित्त में होना चाहिए, फिर इसकी परवा नहीं कि नमूना कैसा है।"

युवा पुरुषों के लिये अनेक प्रकार के प्रलोभन हैं जिनका उल्लेख यहाँ कठिन है; पर जब कि मैं आत्म-संस्कार के शारीरिक, मानसिक और नैतिक तीनों विभागों पर विचार करने बैठा हूँ, तब मुझे उनके विषय में थोड़ा बहुत अवश्य कहना

चाहिए। यहाँ मादकता की बुराइयों को बहुत विस्तार के साथ बतलाने की आवश्यकता नहीं। शिष्ट समाज में आज-कल कोई नशे में चूर होकर नहीं बैठता। नशा मनुष्य के लिये बड़ा भारी कलंक और दोष है। इससे कोई युवा पुरुष किसी प्रतिष्ठित कार्य्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। बहुत से युवा पुरुष मादक वस्तुओं का सेवन कुछ अधिक करते हैं जिससे उनका पिछला जीवन दुःखमय हो जाता है, उनकी शक्तियाँ मारी जाती हैं, उनका शरीर क्षीण हो जाता है, उनकी बुद्धि मंद हो जाती है। पहले लोग दस पाँच मित्रों के साथ में पड़कर थोड़ा बहुत नशा पीते हैं; फिर धीरे धीरे उन्हें नशे का चसका लग जाता है और वे भारी पियक्कड़ हो जाते हैं। जीवन में उपयुक्त आचरण के लिये नशे से बचना बहुत ही आवश्यक है। उन्मत्त मनुष्य कोई कार्य्य ठीक ठीक नहीं कर सकता। नशे का चसका बुद्धि की स्फूर्ति का नाशक, धर्म और सुनीति का नाशक तथा उदार और उच्च भावों का नाशक है। लोग गिलास पर गिलास चढ़ाने का कोई न कोई बहाना निकाल लेते हैं, यह नहीं समझते कि वे अपने आपको धोखा दे रहे हैं। नवयुवक कभी नशे के फेर में इस भ्रांत विचार से भी पड़ जाते हैं कि उनके श्रांत चित्त वा मस्तिष्क के लिये किसी न किसी प्रकार का उद्दीपन चाहिए। लिखने पढ़ने के श्रम से जब उनका मन भरा जान पड़ता है, तब वे समझते हैं कि थोड़ा उत्तेजक वा मादक पदार्थ सेवन कर लेने से उनका

मन हरा और प्रफुल्लित हो सकता है। यह बात ऐसी ही है जैसा आग बुझाने के लिये उसमें घी डालना। किसी युवक वा विद्यार्थी के लिये नशे का नित्य नियम नाश का घर है। इस प्रकार के कृत्रिम उद्दीपन की वासना दिन दिन दूनी होती जायगी, उसकी तृष्णा दिन दिन बढ़ती जायगी और फिर उसका रोकना बराबर कठिन होता जायगा। यह मैं बहुत दिनों के अनुभव की बात कहता हूँ कि जो कार्य्य अपनी स्वाभाविक शक्ति से किया जाता है, उससे बढ़कर अच्छा और कोई काम नहीं होता। उद्दीपन का सहारा लेना बड़ा भारी दोष ही नहीं, बड़ी भारी भूल भी है।

एक विद्वान् का कथन है—"इस समस्त विश्व में एक ही मंदिर है और वह मनुष्य का शरीर है। इससे बढ़कर पवित्र और कोई मंडप नहीं। किसी महान् पुरुष को मस्तक नवाना अस्थि-मांस-मय शरीर में व्यक्त होनेवाले आत्मरूप की आराधना करना है। जब हम मानव-शरीर पर हाथ रखते हैं, तब स्वर्गधाम का स्पर्श करते हैं।" ठीक इसी प्रकार की एक और महात्मा की उक्ति है जिसने कहा है—"हैं! क्या तू नहीं जानता कि तेरा शरीर उस आत्मा का पवित्र मंदिर है जो परमात्मा का अंश है!" कोई धर्म्मात्मा या ज्ञानवान् प्राणी जो शरीर की विलक्षण बनावट के महत्त्व को समझता है, उसे अपवित्रता की छूत से बचावेगा। स्त्रियों के लिये सतीत्व बड़ा भारी धर्म बतलाया जाता है, पर पुरुषों

के चरित्र-दोष का विचार करने में समाज बड़ी रिआयत करता है। किंतु आत्मा के मंगल के लिये, चित्त की सुव्यवस्था के लिये, आध्यात्मिक बल की रक्षा के लिये, अकाल-मृत्यु से बचने के लिये, पुरुषों के लिये सच्चरित्रता अत्यंत आवश्यक है। निष्कलंक शरीर के भीतर शुद्ध चित्त ही बुद्धि और विचार का, उत्तम प्रवृत्ति और युक्त कर्म्म का, निर्द्वंद्व गति और मृदुल चेष्टा का, सच्चे सिद्धांत और निर्मल विवेक का, भगवत्प्रेम और स्वार्थत्याग का, शांति और विश्वास का, पवित्र उपासना और आध्यात्मिक सुख का मूल है। आत्मानुभव का आनंद व्यभिचार के कुत्सित आनंद से कहीं बढ़कर है। सांसारिक सुख के लिये जिस प्रकार बुद्धि का ठिकाने रहना और शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है, उसी प्रकार चित्त का कुत्सित वासनाओं से विमुक्त रहना भी अत्यंत आवश्यक है। वह जो पूर्ण पवित्रता की मूर्ति है, व्यभिचार का कठोर दंड देता है। उसके कोप का भीषण प्रभाव शरीर पर पड़ता है, बुद्धि पर पड़ता है, मस्तिष्क पर पड़ता है, हृदय पर पड़ता है और आत्मा पर पड़ता है। इस संसार में व्यभिचारियों की उनके दुष्कर्मों के कारण जो जो दुर्गतियाँ होती हैं, यद्यपि उनका ब्योरा ठीक ठीक समझना कठिन होता है, पर यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि पाप उनके शरीर को खाता चला जाता है, उनकी शक्तियों को भीतर ही भीतर क्षीण करता चला जाता है, यहाँ तक कि उनकी

आत्मा जर्जर और कलुषित होकर अपनी सारी दैवी संपत्ति खो बैठती है।

धर्म और आयुर्वेद दोनों व्यभिचारी से पुकार पुकारकर कहते हैं—"समझ रख! तेरे पाप का भंडा फूटेगा। यमदूत तेरे पीछे लगा है। उसका दंड तेरे ऊपर अवश्य उठेगा, चाहे जब उठे।" युवा पुरुषों से मैं स्नेह के साथ कहता हूँ कि वे इस घोर सत्यानाशी दोष से बचें जो संसार में स्त्री-पुरुष के पवित्र संबंध को दूषित करता है और शुद्ध सात्विक प्रेम के मूल का नाश करता है। अश्लील हँसी-खेल, शृंगार की पुस्तकें, गीत आदि प्रवृत्ति के साधन हैं। इनसे युवा पुरुषों को बचना चाहिए और सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिनका अंतःकरण पवित्र है, उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार होगा। जो अंतःकरण पवित्र है, वह पाप के लेश मात्र को भीतर नहीं घुसने देता; वह सीप के समान होता है जो स्वाती की बूँद के अतिरिक्त और किसी बूँद को नहीं ग्रहण करती। एक धार्मिक महात्मा की उक्ति है—"जब फल समूचे और अखंडित रहते हैं, तब तुम उन्हें अच्छी तरह संचित कर सकते हो, कुछ को भुस में गाड़ सकते हो, कुछ को पताई और बालू के नीचे दबाकर रख सकते हो। पर जब वे एक बार चुटीले हो जाते हैं, तब उन्हें बचाकर रखने का केवल एक यही उपाय है कि वे शीरे वा शहद में डालकर रख दिए जायँ। यही दशा हृदय की पवित्रता की है। यदि

वह कभी खंडित वा दूषित न हुई, तो बराबर बनी रहेगी। पर यदि वह एक बार खंडित हो गई तो उसकी रक्षा का सच्चा भगवद्भक्ति के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, जो हृदय के लिये मधु वा चाशनी है।"

वही महात्मा आगे चलकर पवित्रता की रक्षा की सब से अच्छी युक्ति भी बतलाता है। वह युवा पुरुषों को ऐसी बातों से चट दूर भागने की चेतावनी देता है जो अपवित्रता की ओर ले जाती हैं। क्योंकि यह पाप ऐसा है जो दबे पाँव प्रवेश करता है और जो थोड़े ही से बढ़ते बढ़ते बहुत हो जाता है। ऐसे पापों से भागना जितना सहज है, उतना उन पर विजय प्राप्त करना नहीं। पवित्रता का उद्गम-स्थान हृदय है। दर्शन, श्रवण, कथन, घ्राण और स्पर्श में संयम का अभाव अपवित्रता है—विशेषतः जब हृदय को उससे आनंद मिलता है। यह भी याद रखो कि बहुत सी ऐसी बातें हैं जो स्वयं अपवित्र नहीं, पर पवित्रता में धब्बा लगाती हैं। जिस किसी बात से पवित्रता की भावना कुंठित हो या उस पर किसी प्रकार का कल्मष चढ़े, वह इसी प्रकार की है। समस्त बुरे विचार वा इंद्रियलोलुपता के प्रमादपूर्ण कर्म पवित्रता के नियम-भंग के लिये सोपान हैं। इंद्रियासक्तों की संगत से बचो। ऐसा प्रसिद्ध है कि नीम आदि कड़ुए पेड़ों के पास जो फलदार पेड़ लगाए जाते हैं, उनके फल कड़ुए हो जाते हैं। इसी प्रकार यह संभव नहीं कि अपवित्र और व्यभिचारी

पुरुष किसी से संसर्ग रखे और उसकी पवित्रता को दूषित न कर दे। अस्तु, सदा सज्जन और संयमी लोगों का संग करो, पवित्र वस्तुओं का चिंतन करो, धर्मग्रंथों का अवलोकन करो; क्योंकि वे पवित्रता के स्रोत के मूल हैं। जो लोग उनका अध्ययन करते हैं, उनमें पवित्रता और दृढ़ता आती है।

पाँचवाँ प्रकरण

अध्ययन

यदि हम चाहते हों कि हमें कोई ऐसा चसका लगे जो प्रत्येक दशा में हमारा सहारा हो और जो जीवन में हमें आनंद और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचावे—चाहे हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रूठा हो—तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चसका लगावें। पर अध्ययन की रुचि से जो लाभ हैं, वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साधन के लिये अध्ययन किया जाता है, वे इतने ही नहीं हैं, इनसे अधिक हैं और इनसे उच्च हैं। आत्मसंस्कारसंबंधी पुस्तक में अध्ययन को केवल एक रुचि की बात कह देना ठीक नहीं, उसे परम कर्त्तव्य ठहराना चाहिए; क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और धर्म के अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है। यह ठीक है कि बहुत से कर्मण्य पुरुष हुए हैं जो बड़े बड़े काम कर गए हैं, पर लिखना पढ़ना नहीं जानते थे। बहुत से लोग ऐसे हो गए हैं जिनके पठन-पाठन वा मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति उनकी प्रज्ञा की प्रतिभा, अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि यदि वे पढ़े लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती तो संभव

है वे और अधिक उत्तम कार्य्य कर सकते। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय और आचरण आदि के संबंध में जो नियम ठहराए जाते हैं, वे ऐसे इक्के दुक्के लोगों के लिये नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं।

आत्मसंस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अंग है। हमारे लिये किसी जाति के उस साहित्य में गति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभासम्पन्न पुरुषों ने जो सिद्धांत स्थिर किए हैं, उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढ़ना नहीं जानता, उसे भूत-काल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो कुछ सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार। उसे उस भांडार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढ़ियों से संचित होता आया है। एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी नहीं थी, तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकालीं और उन्हें यह समझकर कागज पर लिख लिया कि मैंने बड़े भारी आविष्कार किए। कुछ दिनों के उपरांत जब वह एक बड़े पुस्तकालय में गया, तब उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए था, वे

साधारण छात्रों तक को ज्ञात, पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं। विद्या के प्रत्येक विभाग में यही दशा उसकी होती है जो पढ़ता नहीं। मनुष्य की अन्वेषण और विचार-परंपरा ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच चुकी है, इसकी उसे खबर नहीं रहती। उसके लिये उसके पूर्व का काल अंधकारमय है। न जाने कितने लोग हो गए, कैसे कैसे विचार कर गए, पर उसे क्या ? वह जो सामने देखता है वही जानता है और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह देख भी नहीं सकता। वह अपने ही फैलाए हुए अंधकार में गिरता पड़ता है, टेढ़ी मेढ़ी पगडंडियों में भटकता फिरता है, यह नहीं जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौड़ा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहाँ हम पढ़ने के दो एक अत्यंत प्रत्यक्ष लाभों की ओर ध्यान देते हैं। यह विषय जैसा उपयुक्त है, वैसा ही मनोरंजक भी है। पहली बात तो यह है कि पढ़ने से इतिहास और काव्य में हमारी गति होती है और भूत काल की घटनाएँ हमारे अंतःकरण में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इसके द्वारा हमें संसार के बड़े बड़े राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है। पढ़ने से हमें विदित होता है कि किस प्रकार मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनों के लिये रुकता और कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता और दूसरे स्थान में इकट्ठा होता हुआ, कभी कुछ

दिनों के लिये उथला और छिछला पड़कर फिर अनिवार्य्य वेग के साथ बहता और गंभीर होता हुआ अंततः आगे ही बढ़ता आया और उसने अपनी सुखसमृद्धिपूर्ण विजय का प्रसार किया। हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्न बाधाओं को सहकर, कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को झेलकर जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है, जिसका फल यह हुआ है कि प्रत्येक सभ्य देश के गरीब आदमी भी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख चैन से हैं। हम जानते हैं कि किस प्रकार संसार की अनेक क्रूर और धर्मभावशून्य जातियाँ बौद्ध धर्म ग्रहण करने को तैयार हुईं, किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचार बढ़ा तथा उससे मनुष्यों की रहन सहन में कितना शुभ परिवर्त्तन हुआ। पुस्तकों में हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रताप और शक्ति एक जाति से निकलकर दूसरी जाति में जाती है। उनसे यह भी पता लगता है कि किन किन कारणों से और किन किन दशाओं में ऐसा होता है। भारतवर्ष, फारस, काबुल, मिस्र, यूनान, रोम—जो अब नाम ही नाम को रह गए हैं, कल्पना में जिनके प्रताप और महत्त्व की धुँधली छायामात्र शेष रह गई है—पुस्तकों के द्वारा हमें अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं और हम उनकी यथार्थ स्थिति को समझने में समर्थ होते हैं। इन प्राचीन देशों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तब हम दिनों के फेर को सोचते हैं, भाग्य की चंचलता को

सोचते हैं तथा व्यक्ति के जीवन-क्रम और एक जाति के भाग्य-क्रम के बीच जो विलक्षण समानता है, उस पर विचार करते हैं। एक धार्मिक उपदेष्टा कहता है—"चाहे एक व्यक्ति को लो चाहे एक जाति को लो, सबके समृद्धि के दिन प्रायः वे ही होते हैं जिनके पीछे घोर विपत्ति के दिन आते हैं।" चाहे चंद्रगुप्त, सिकंदर, कैखुसरो, तैमूर इत्यादि बड़े बड़े विजेताओं को लो, चाहे हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र, एथेंस, रोम आदि की ओर ध्यान दो, बात एक ही होगी। अपनी रक्षा के निश्चय ही में नाश का अंकुर रहता है, अपने पराक्रम की भावना और उसे दिखाने की वासना ही से पतन भी होता है। भाग्य के इस अचानक पलटा खाने पर हमें ध्यान देना चाहिए। पर सबसे अधिक ध्यान तो हमें इस विश्वव्यापक नियम की ओर देना चाहिए कि जब कोई मनुष्य या जाति अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच जाती है, तब उसमें भीतर ही भीतर भोग, विलास, अनीति और दुर्व्यसन का घुन शक्ति को खाने लगता है, अधिक तड़क भड़क और शान दिखाई पड़ती है, यहाँ तक कि बाहर से देखनेवालों को शक्ति की स्थिरता का अधिक विश्वास होता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि जब दीपक बुझने को होता है, तब अधिक जगमगाता और भभकता है। पारसियों का प्रताप इतना प्रबल और कभी नहीं दिखाई पड़ा था जितना उस समय जब क्षयार्ष ने अपनी असंख्य सेना लेकर यूनान पर चढ़ाई की थी पर यथार्थ में

पारसी जाति की शक्ति उस समय इतनी क्षीण हो गई थी कि थोड़े ही आघात से ध्वस्त हो सकती थी। जिस समय नेपोलियन अपनी चार लाख सेना लेकर यूरोप को विजय करने की कामना से रूस की ओर बढ़ा था, उस समय सारा यूरोप काँप उठा था, पर सच पूछिए तो भीतर ही भीतर उसके विनाश के सामान इकट्ठे हो रहे थे। औरंगजेब के राजत्व-काल में मुगल साम्राज्य अपने पूर्ण विस्तार को पहुँच गया था; पर इतिहासविज्ञ मात्र जानते हैं कि वह वास्तव में उसके खंड खंड होने का आयोजन मात्र था। जिस समय महाराज पृथ्वीराज दिल्ली के राजसिंहासन पर थे, उस समय राजपूतों की शक्ति पराकाष्ठा को पहुँची जान पड़ती थी; पर देखते ही देखते वह शक्ति विलीन हो गई और हिंदू साम्राज्य का अंत हो गया।

इतिहास की उस अस्थिरता का, जिसका परिज्ञान हमें पुस्तकों द्वारा होता है, एक और भी दृष्टांत दिया जा सकता है। विद्याभ्यासी युवक यदि संसार की बड़ी बड़ी राजधानियों के इतिहास का मिलान उनके राज्यों के इतिहास से करेंगे तो उन्हें जान पड़ेगा कि एक ओर तो उन राज्यों की शक्ति क्रमशः क्षीण हो रही थी और दूसरी ओर उन राजधानियों की शोभा पूर्ण समृद्धि को पहुँची दिखाई पड़ती थी। जब अवध के नवाबों का प्रताप प्रस्थान कर चुका था, जब वे अपने राज्य की स्थिति के लिये दूसरी राज्य-शक्ति का मुँह

ताकने लगे थे, जब उनमें अपना बल कुछ भी नहीं रह गया था, जब चमताहीन विलासपरायण वाजिदअली शाह सहस्रों रमणियों से घिरे हुए मोतियों की राख फाँकते थे, उस समय लखनऊ के जोड़ का और दूसरा नगर भारतवर्ष में नहीं था। वहाँ आठों पहर सोना बरसता था। गोमती के किनारे छतर-मंजिल, शीशमहल आदि को देख आँखों में चकाचौंध होती थी। नादिरशाह के आक्रमण के समय मुहम्मदशाही में दिल्ली की जो रौनक थी, वह फिर कभी काहे को दिखाई देगी। जिस समय महमूद ने हिंदुस्तान की ओर यात्रा की, उस समय फूट आदि के कारण हिंदुओं की राजनैतिक शक्ति बिलकुल चीण हो चुकी थी, पर मथुरा, सोमनाथ आदि तीर्थ-स्थानों का ठाट-बाट और वैभव वर्णन के बाहर था। जिस समय बादशाह बेलशाजर अपने विशाल भवन में बैठा हुआ दीवार पर अपने भाग्य-लेख को पढ़ रहा था और विजयी पारसियों की विजय-दुंदुभी का तुमुल शब्द सुन रहा था, उस समय बाबुल की शोभा अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी।

इतिहास की पुस्तकों से पाठकों को एक अत्यंत अनमोल शिचा मिलती है। मनुष्य जाति के मामलों में परमेश्वर किस प्रकार समय समय पर हाथ डालता है, वे स्पष्ट देखते हैं। पर आधुनिक कोटि के इतिहासवेत्ता इस बात को देखकर भी इससे अनभिज्ञ बनते हैं। वे प्रत्येक कार्य वा घटना के कारण का पता विकास-सिद्धांत अथवा निज-कल्पित नियमों द्वारा

लगाने का दम भरते हैं। पर यह बात ऐसी प्रत्यक्ष है कि इस पर धूल नहीं डाली जा सकती। यह संसार के इतिहास में अमिट अक्षरों में अंकित है। थोड़ा उन घटनाओं पर ध्यान दीजिए जिनके सहारे छत्रपति महाराज शिवाजी एक बड़े साम्राज्य के संस्थापक हुए थे और देखिए कि किस प्रकार वे दैव-प्रेरित जान पड़ती हैं। भारत के इतिहास में मगध का अंध्र राजवंश प्रसिद्ध है। इसके शूद्र संस्थापक ने कन्न वंश के अंतिम राजा को धोखे से मारकर मगध का राजसिंहासन प्राप्त किया था। इस वंश का राज्य बहुत दिनों तक नहीं चला। इसका अंतिम राजा पुलोम गंगा में डूबकर मरा। फिर वही दशा इस वंश की हुई जो इसके संस्थापक ने कन्न वंश की की थी। पुलोम का सेनापति रामदेव राजा बनकर बैठा। पर उसे भी इसका ठीक ज्यों का त्यों प्रतिकार ईश्वर की ओर से मिला। उसका सेनापति प्रतापचंद्र उसे गद्दी पर से हटाकर राजा हुआ। इस प्रकार यह प्रतिकार-परंपरा शताब्दियों तक चली और एक सेनापति के पीछे दूसरा सेनापति राजा बनता रहा। ये सेनापति राजा इतिहास में अंध्रभृत्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। देशद्रोही जयचंद ने द्वेष से प्रेरित होकर पृथ्वीराज की शक्ति को ध्वस्त करने की कुटिल कामना से मुसलमानों को बुलाया, पर कुछ दिन भी वह अपने इस घोर पाप का सुख न भोग सका। दो ही वर्ष के भीतर उसी सेना ने, जिसे अपने देश-भाइयों का रक्त बहाने

के लिये बुलाया था, उसको रणभूमि में सुलाकर उसका सर्वस्व हरण किया और द्रोह का भयंकर परिणाम भारतवासियों को दिखला दिया। भारतवासियों की धर्म-प्रवृत्ति का बौद्ध धर्म द्वारा जो संस्कार हुआ, उसे देखने से स्पष्ट झलकता है कि किस प्रकार मनुष्यों के आचार व्यवहार और रीति नीति में अनुकूल परिवर्त्तन उपस्थित करने के लिये परमात्मा की प्रेरणा से एक न एक नई शक्ति खड़ी हो जाती है। जिस समय भारतवासी अपना सारा धर्म-पुरुषार्थ वैदिक कर्मकांड की जटिल क्रियाओं में समझने लगे थे, उस समय उन्हें परोपकार और दया धर्म की ओर फिर से प्रवृत्त करने के लिये भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। अग्निष्टोम, वाजपेय, दर्शपौर्णमास आदि का जितना फल समझा जाता था, उतना ही फल कूआँ, तालाब खुदवाने, बाग लगाने आदि का समझा जाने लगा। यह ठीक है कि परमात्मा का व्यापक उद्देश्य कभी कभी हमारे संकुचित उद्देश्य से भिन्न होता है जिससे हमारे मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ उठती हैं। हम जैसा होना न्याय्य समझते हैं, वैसा होते न देख ईश्वर के विषय में अनेक प्रकार के संदेह करने लग जाते हैं। पर यदि विचारकर देखिए तो इतिहास में चारों ओर परमेश्वर की प्रेरणा का आभास मिलता है। कितनी छोटी छोटी बातों से संसार में कितने बड़े बड़े उलट फेर हुए हैं, यह प्रत्येक इतिहासविज्ञ मनुष्य को विदित है। जहाँ एक शक्ति का पतन और नाश होता है, वहाँ

दूसरी शक्ति का उदय और उत्थान होता है। अव्यवस्था के उपरांत व्यवस्था स्थापित होती है, अंधेर के पीछे सुनीति का संचार होता है, दुर्बलता के पीछे बल आता है, बड़े बड़े प्राचीन राज्यों के खँडहरों की ईंटों को जोड़ बटोरकर नए नए अधिक बल-वैभव-संपन्न साम्राज्य खड़े होते हैं। मिस्र, बाबुल, फारस आदि के अवशिष्टांश से यूनान की सभ्यता का विकास हुआ, यूनान की खंडित शक्ति से रोम राज्य खड़ा हुआ और रोम राज्य के छितराए खंडों से यूरोप की आधुनिक राजनैतिक शक्तियों की सृष्टि हुई।

इस विषय पर विचार करते हुए पाठकों को थोड़ा मुगल बादशाह औरंगजेब के धर्मांध शासन पर ध्यान देना चाहिए। मुगल राज्य औरंगजेब के समय में उन्नति की चरम सीमा को पहुँचा। औरंगजेब मदांध होकर दक्षिण की बीजापुर आदि गरीब रियासतों को हड़प करने के लिये बढ़ रहा था, पर बीच ही में यह क्या हुआ? शिवाजी रूपिणी एक महाशक्ति ने दीनदार औरंगजेब के गले रोजा मढ़ दिया! औरंगजेब के पहले सिक्ख जाति एक धार्मिक मंडली मात्र थी। पर जब औरंगजेब की धर्मांधता हद को पहुँच गई और सिक्ख लोग सताए जाने लगे, तब सिक्ख जाति ने अपने हाथ में अस्त्र लिया और औरंगजेब के सामने ही गुरु गोविंदसिंह ने सिक्खों की उस भावी शक्ति का आभास दे दिया जिसने सारे पंजाब में विजय का डंका बजाकर अफगानिस्तान के पठानों को भी

कँपा दिया। जिस समय नेपोलियन सारे यूरोप को ध्वस्त करने की कामना से चार लाख सेना लेकर रूस की ओर बढ़ा, उस समय उसकी क्या गति हुई? उसके लाखों सिपाही तूफान और बर्फ में गलकर मर गए, न जाने कितनों ने भूख और प्यास से तड़प तड़पकर अपने प्राण दिए, और वह अपना सा मुँह लेकर बड़ी कठिनता से लौट सका।

पढ़ने से और और जो लाभ हैं, अब मैं उन्हें थोड़े में कहना चाहता हूँ। अध्ययन के द्वारा हम घर बैठे बड़े बड़े धुरंधर विद्वानों के गंभीर विचारों को जान सकते हैं, संसार के प्राचीन महापुरुषों के सत्संग का लाभ उठा सकते हैं। अध्ययन द्वारा हम ज्ञान के स्रोत तक बराबर पहुँच सकते हैं, चाहे ज्ञानदाता जिस स्थान पर हो और जिस काल में हुआ हो। इस विषय में दिक् या काल कोई बाधा नहीं डाल सकता। अध्ययन के द्वारा हम वाल्मीकि, व्यास और गौतम से उतने ही परिचित हो सकते हैं जितने उनके समकालीन थे। अध्ययन हमें भारतवर्ष के अतुल ज्ञानभांडार से संतुष्ट कर सकता है, यूनान, रोम आदि की व्यवस्थित विचार-परंपरा से परिचित कर सकता है, अरब, फारस आदि की भावुकता का अनुभव करा सकता है। भवभूति को हम मृत कैसे समझें जब कि वह 'उत्तररामचरित' द्वारा हमें अपनी मधुर वाणी सुना रहे हैं। क्या कालिदास की उज्जयिनी में शिप्रा के किनारे जाकर हमारा आँसू बहाना ठीक है जब कि अपने अलौकिक

काव्य द्वारा वे हमारे सामने उपस्थित हैं। थोड़ा सोचिए तो कि इससे बढ़कर आनंद और क्या हो सकता है कि हम अपनी कोठरी में ऐसे ऐसे साथियों को लिए आराम के साथ लेटे हैं जैसे कालिदास, भवभूति, चंद बरदाई, तुलसी, रहीम। हमारा जब जी चाहता है तब हम जायसी की कहानी सुनकर अपना समय काटते हैं, जब मन में आता है अंधे सूर के प्रेम और चतुराई से भरे पद सुनकर रसमग्न होते हैं, कभी कल्पना में चित्रकूट के घाट पर बैठे राम लक्ष्मण के दर्शन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी की गंभीर गिरा से अपने उद्विग्न मन को शांत करते और मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र का चरित देख पुलकित होते हैं। एक कोने में कबीर अपनी एड़ी बेड़ी बानी और 'सबद', 'साखी' द्वारा पंडितों और मुल्लाओं को फटकारते हुए बैठे हैं। कहीं बौद्धों से झगड़ते झगड़ते थककर सिर पर हाथ दिए अद्वैतवादी शंकराचार्य्य संसार को मिथ्या बतला रहे हैं, कहीं भूषणजी मरहठों के बीच बैठे अन्याय-दमन की उत्तेजना दे रहे हैं। इसी प्रकार की एक खासी मंडली जहाँ लगी हुई है, वहाँ और कोई साथी न रहे तो क्या ?

पुस्तकों के द्वारा किसी महापुरुष को हम जितना जान सकते हैं, उतना उसके मित्र क्या पुत्र कलत्र भी नहीं जान सकते। चाणक्य पर जितना उसके पाठक विश्वास करते हैं, उतना उसके समय के लोग न करते रहे होंगे, उसकी बात-

चीत में वे खरी खरी बातें न आती रही होंगी जो उसके लेखों में आती हैं। ग्वाल आदि श्रृंगार के कवियों से पाठकों के चरित्र और भाव जितने दूषित हो सकते हैं, उतने उनके पास बैठनेवालों के न होते रहे होंगे। जो ग्रंथकार अपने जीवन काल में आसपास के लोगों से बोलने चालने में बहुत संकोच करते थे, अध्ययनशील पुरुष के निकट एकांत में वे अपनी पुस्तकों द्वारा अपने हृदय के सारे भावों को बेधड़क खोलकर प्रकट कर देते हैं। उनकी पुस्तकों द्वारा हम उन्हें पूर्ण रूप में देखते हैं, उनकी सारी प्रकृति हमारे सामने आ जाती है, कोई बात छिपी नहीं रहती। चाणक्य के महत्त्व को जितना हम आजकल के लोग समझ सकते हैं, उतना उसके सम-कालीन लोग नहीं समझ सकते थे। वे उसके गुण के प्रत्येक अंग को, उसकी स्थिति के पूर्ण रूप को नहीं देख सकते थे। यदि किसी पर्वत के आकार और विस्तार को पूर्ण रूप से देखना चाहो, तो तुम्हें उससे कुछ दूर जाकर खड़ा होना होगा। इसी प्रकार हम उससे २००० वर्ष पीछे हटकर उसके "अर्थशास्त्र" और "नीति" द्वारा तथा इतिहास में अंकित उसकी कृतियों के परिचय द्वारा उसकी बुद्धि की सूक्ष्मता और तत्परता का पूर्ण अनुमान और उसके बतलाए हुए आदर्श राज्य की भावना का पूरा अनुभव कर सकते हैं।

जो विद्याभ्यासी पुरुष पढ़ता है और पुस्तकों से प्रेम रखता है, संसार में उसकी स्थिति चाहे कितनी ही बुरी हो,

उसे साथियों का अभाव नहीं खल सकता। उसकी कोठरी में सदा ऐसे लोगों का वास रहेगा जो अमर हैं। वे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और उसे समझाने के लिये सदा प्रस्तुत रहेंगे। कवि, दार्शनिक और विद्वान्, जिन्होंने अपने घोर प्रयत्नों द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके शांति और सुख का तत्त्व निचोड़ा है, बड़े बड़े महात्मा, जिन्होंने आत्मा के गूढ़ रहस्यों की थाह लगाई है, सदा उसकी बातें सुनने तथा उसकी शंकाओं का समाधान करने के लिये उद्यत रहेंगे। यदि पाठक चाहे तो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति उसको तुच्छ चिंताओं से मुक्त करके ऐसी भावमयी सृष्टि में ले जाने के लिये तैयार रहेगा जहाँ सांसारिक प्रपंचों का लेश नहीं। चाहे कितनी ही घोर निःस्तब्धता हो, उसके कानों में प्रकृति का मधुर और रहस्यपूर्ण संगीत पड़ेगा, कोमल और गंभीर वचन सुनाई देगा। कालिदास अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उसे मेघ के साथ उस अलकापुरी में पहुँचावेंगे, जहाँ—

नित पौन के पेरे कितेकहु बादर घूमत घूमत आवत हैं।
जल-बूँदन की बरखा करिके अँगनान के चित्र मिटावत हैं॥
भयभीत से फेरि झरोखन ह्वै सिमिटे तन बाहर धावत हैं।
कढ़ि जान को बेगि धुआँ बनिके बड़े चातुर वेहू कहावत हैं॥

अथवा भवभूति के साथ जाकर वह उस दंडक वन में थोड़ा विश्राम पावेगा, जहाँ—

कहुँ सुंदर घनश्याम कतहुँ धारे छबि घोरा।
कहुँ गिरि खोहन गूँजि बढ़त भरनन कर सोरा॥
सुनसान कहुँ गंभीर वन कहुँ सोर बनपसु करत हैं।
कहुँ लपटि निसरत सुप्त अजगर साँस सन तरु जरत हैं।
गिरि खोह महँ कछु जल भरे कहुँ छुद्र खात लखात हैं।
अहि स्वेद गिरगिट पियत तहँ जब प्यास सन घबरात हैं।

तुलसीदास उसे अपने साथ गंगा उतरकर वन की ओर जाते हुए राम लक्ष्मण को दिखावेंगे जिनके अलौकिक सौंदर्य के कारण

गाँव गाँव अस होइ अनंदू।
देखि भानुकुल-कैरव चंदू॥
जो यह समाचार सुनि पावहिं।
ते नृप रानिहिं दोष लगावहिं॥

और कहेंगे—

धन्य भूमि बन पंथ पहारा।
जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा॥
धन्य बिहग मृग काननचारी।
सफल-जनम भे तुमहिं निहारी॥
हम सब धन्य सहित परिवारा।
दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥

जायसी उसे कलिंग देश में ले जाकर जहाज पर चढ़ावेगा और राजा रतनसेन के साथ सिंहलद्वीप में उतारकर प्रेमपथ

का माधुर्य और त्याग दिखावेगा, फिर चित्तौरगढ़ लाकर चिता पर बैठी पद्मावती (पद्मिनी) के सतीत्व की अद्भुत दीप्ति का दृश्य सम्मुख करेगा। चंद बरदाई उसे प्राचीन काल के सूर सामंतों की आन और नोंक-झोंक दिखावेगा। इस प्रकार विद्याभ्यासी पुरुष बड़े बड़े लोगों की प्रतिभा से अपने भावों को पुष्ट करेगा। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के महान् पुरुष उसके सामने हाथ बाँध इस प्रकार खड़े रहेंगे जिस प्रकार मंत्रवेत्ता के आह्वान पर देवता उपस्थित होते हैं।

पढ़ते समय हमें विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन में संचित करते जाना चाहिए जिसमें हमारे पास ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भांडार हो जाय कि उसमें से समय समय पर, जब जैसा अवसर पड़े, हम शांति, उपदेश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भांडार अधिकार में रखना उपयोगी और आनंदप्रद दोनों है। बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जब हमारा जी टूट जाता है और हमारी शक्ति शिथिल हो जाती है। सोचिए तो ऐसे अवसरों पर किसी ऐसे पुरुषार्थी महात्मा के उत्साहपूर्ण वचनों से कितना उत्साह प्राप्त होगा जिन्होंने कठिन संकट और विघ्न सहे पर अंत में अपने अध्यवसाय के बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है—

छाड़िए न हिम्मत, बिसारिए न हरि नाम,
जाही बिधि राखैं राम, वाही बिधि रहिए।

प्रयत्न में हताश वा दुखी व्यक्ति को कितना धैर्य बँध सकता है, यदि उसे किसी ऐसे महात्मा के वचन सुनने को मिलें जो दुःख पड़ने पर कहता है—"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा में रहें, हम इस कर्त्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भोगें, हम इस विपत्ति में पड़ें, हम यह अपमान और ताप सहें। ईश्वर की जैसी इच्छा! ईश्वर की यही इच्छा है, हम या संसार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिये परम धर्म है।" बहुत से अवसर आते हैं जब दूसरों की इच्छा के अनुसार कार्य्य करना, दूसरों की अधीनता स्वीकार करना अभिमानी युवकों को बड़ा कड़ुआ जान पड़ता है। ऐसे अवसर पर वे इस बात का स्मरण कर लें तो बहुत ही अच्छा है कि संसार में जितने बड़े बड़े विजयी हुए हैं, वे आज्ञा मानने में वैसे ही तत्पर थे जैसे आज्ञा देने में। बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब सत्य के मार्ग पर स्थिर रहने की उचित दृढ़ता हमें नहीं सूझती, और हम चटपट आवेश में आकर काम करना चाहते हैं। ऐसे अवसरों पर हमें गिरधर की इस चेतावनी का स्मरण करना चाहिए—

विना बिचारे जो करे सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय॥

अस्तु, पढ़ने का एक लाभ तो हुआ कि उससे हम समय पड़ने पर शिक्षा, उत्साह और शांति प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें ऐसे ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें

लेकर जीवन के भीषण संग्राम में हम अपनी थाप रख सकते हैं। उससे हमें उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्य्यों की उत्तेजना मिलती है। एक बार किसी सरदार ने राजा की इच्छा के विरुद्ध कोई उचित और न्यायसंगत कार्य्य करने पर उद्यत एक दूसरे सरदार को परामर्श देते हुए कहा—"पर महाशय, राजाओं का क्रोध तो आप जानते हैं, मृत्यु सामने रखी है।" दूसरे सरदार ने चट उत्तर दिया—"तब तो मुझमें और आपमें केवल इतना ही अंतर है कि मैं आज मरूँगा और आप कल।" इस अभिप्रायगर्भित वाक्य से किसका उत्साह नहीं बढ़ेगा, किसका चित्त दृढ़ नहीं होगा? कोई छोटा है या बड़ा, यह कोई बात नहीं। मुख्य बात यह है कि जो जिस श्रेणी में है, वह उसके धर्म का पालन करता है या नहीं। साधारण विद्या बुद्धि का मनुष्य भी यदि मर्यादा का ध्यान रखता हुआ धर्मपूर्वक अपना कार्य्य करता जाय तो वह उसी प्रकार सफल-मनोरथ हो सकता है जिस प्रकार कोई बड़ा बुद्धिमान् मनुष्य। इस विषय पर मुझे बहुत कहने की आवश्यकता नहीं। पढ़ने का बड़ा भारी अलभ्य और मनोहर लाभ यह है कि उससे चित्त शुभ भावनाओं और प्रौढ़ विचारों से पूर्ण हो जाता है। जब कभी जी चाहे, मनुष्य चुपचाप बैठ जाय और जो कुछ उसने पढ़ा हो उसका चिंतन करता हुआ उपयोगी और आनंदप्रद विचारों की धारा में मग्न हो जाय, इसके लिये उसे किसी प्रकार के बाहरी आधार की

आवश्यकता नहीं। खाली बैठे रहने के समय—जैसे रेल, नौका आदि की यात्रा में—हमारे लिये यह एक अच्छा लाभकारी मानसिक व्यायाम रखा हुआ है कि हम किसी अच्छे ग्रंथकार की कोई पुस्तक उठा लें और उसकी बातों को, उसकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों को तथा उसके मनोहर दृष्टांतों को हृदय में इस क्रम से धारण करते जायँ कि जब अवसर पड़े, तब हम उन्हें उपस्थित कर सकें। हृदय का यह भांडार ऐसा होगा जो कभी खाली न होगा; दिन दिन बढ़ता जायगा। इस प्रकार हृदय में संचित किए हुए भाव और दृष्टांत मोतियों के समान होंगे जिनकी आभा कभी नष्ट वा क्षीण नहीं होती।

पढ़ने से हमारे व्यवसायों की बुराइयों और प्रलोभनों का, हमारे आचार व्यवहार की त्रुटियों का, हमारे समय की कुप्रवृत्तियों का जो निराकरण होता है, वह भी थोड़ा लाभ नहीं है। इस विषय में अध्ययन औषधोपचार का काम करता है। जो लोग दिन भर ऐसे कामों में हैरान रहते हैं जिनमें कठिन तर्क वितर्क और सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता होती है, उन्हें चाहिए कि जब अवकाश मिले तब वे विस्तीर्ण कल्पनावाले लेखकों की भावमयी रचनाओं का अवलोकन करें। पर जहाँ तक देखा जाता है, ऐसे लोग उत्कृष्ट कल्पना-पूर्ण रचनाओं और काव्यों से दूर भागते हैं, वे यह नहीं समझते कि उन्हें ऐसी पुस्तकों के अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि जो अपने समस्त जीवन का

संस्कार करना चाहता हो, उसे अंतःकरण की ऐसी वृत्तियों का अभ्यास रखना चाहिए जिनका काम उसे अपने नित्य के व्यवसाय में नहीं पड़ता अथवा जिनके व्यवहार की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। तर्कशास्त्र का अभ्यास ऐसे लोगों के लिये बहुत उपयोगी होगा जो प्रमाणपूर्वक यथा-तथ्य बात कहने तथा प्रौढ़ युक्ति देने में अनभ्यस्त हैं। जो जटिल विवेचना और कठिन मानसिक प्रयास में व्यस्त रहते हैं, काव्यों के अवलोकन से उनके चित्त को बहुत विश्राम और आनंद मिलेगा। बहुत से लोगों के लिये ऐतिहासिक पुस्तकें औषध और पुष्टई का काम करेंगी। विशेष विशेष पुस्तकें विशेष विशेष अवस्थाओं के लिये उपयोगी होंगी। नाच रंग और भोग विलास की प्रवृत्ति का संशोधन भर्तृहरि के नीति और वैराग्यशतक तथा केशव की विज्ञानगीता आदि से हो सकता है। जिसमें प्राकृतिक दृश्यों के सौंदर्य्य के अनुभव की मार्मिकता नहीं, उसमें कालिदास और भवभूति की वाणी सुनते सुनते यह मार्मिकता आ जायगी। प्रत्येक अवसर और प्रत्येक दशा के लिये वाल्मीकि का महाकाव्य उपयुक्त होगा। जो हर समय उदास और मुँह लटकाए रहते हैं, उनकी दवा भारतेंदु हरिश्चंद्र और प्रतापनारायण मिश्र के नाटकों तथा बंगाली लेखक दीनबंधु मित्र के उपन्यासों से हो सकती है। मानसिक विकारों के लिये पुस्तकें बहुत ही उपयुक्त औषध हैं। जिनका चित्त अपने आस पास के व्यापारों को दिन

रात देखते देखते ऊब गया हो, उन्हें चाहिए कि वे अद्‌भुत घटनाओं और वृत्तांतों से पूर्ण यात्रा की पुस्तकें पढ़ें। इससे उनका चित्त बहल जायगा और उनमें फुरती आ जायगी। 'चीन में तेरह मास', 'भारतभ्रमण', 'कोलंबस की यात्रा' इत्यादि को हाथ में लेकर जब वे चीन, लंका, अमेरिका की बैठे बैठे सैर करेंगे, तब वे अपने को कारागार से मुक्त हुआ समझेंगे और सृष्टि के विस्तार को देख प्रसन्न होंगे। संकीर्ण भाव के लोगों के आगे इतिहास की पोथियाँ खोलकर रखनी चाहिएँ। एक ग्रंथकार कहता है—"मुझे स्मरण आता है कि मैंने एक बार एक ऐसे पुरुष को, जो पत्नी के मरने पर उसके वियोग में दिन दिन घुलता जाता था और किसी प्रकार की दवा दारू के पास नहीं जाता था, भूगर्भशास्त्र की दस पाँच बातें सुनाकर चंगा कर दिया। मैंने तो यह सोचा है कि जिस प्रकार पुस्तकालयों में लोग विषय के अनुसार दर्शन, गणित, इतिहास, काव्य, विज्ञान आदि लिखकर अलमारियों पर चिपकाते हैं, उसी प्रकार जिन जिन रोगों के लिये जो जो पुस्तकें उपकारी हों, उनकी अलमारियों पर उन्हीं रोगों के नाम—काश ज्वर, शोकोन्माद आदि—लिखकर लगा दूँ।" आगे चलकर वही ग्रंथकार थोड़ा गंभीर होकर फिर कहता है—"जब कोई ऐसा दुःख तुम्हारे चित्त में समा जाता है जो हटाए नहीं हटता, और तुम यह समझने लगते हो कि जब ईश्वर ने इस एक सुख से तुम्हें वंचित कर दिया तब फिर जीवन व्यर्थ है, तब

तुम्हारे लिये अच्छा यह होगा कि बड़े बड़े पुरुषों के जीवन-चरित हाथ में लो। फिर देखो कि उनमें एक पृष्ठ भी ऐसा न मिलेगा जिसमें किसी तुम्हारे ऐसे दुःख का पचड़ा गाया गया हो। प्रत्येक पृष्ठ में बराबर जीवन में अग्रसर होते जाने की बात मिलेगी। तुम पर जहाँ कोई दुःख पड़ा, तुम समझते हो कि बस तुम बिना हाथ पैर के हो गए, तुम्हारी कमर टूट गई। नहीं, कभी नहीं! तुम्हारे हाथ पैर टूटे नहीं, उनमें झुनझुनी चढ़ गई है। जीवनचरित में तुम देखोगे कि किस प्रकार दुःखों को लाँघता फाँदता महान् पुरुष का जीवन आगे बढ़ता गया है।"

मनुष्य को किन किन विषयों के पठन का क्रम रखना ठीक होगा, इसका विचार बहुत कुछ उसके व्यवसाय के अनुसार होना चाहिए। जो दिन रात किस्से कहानियाँ ही पढ़ा करता है, वह अच्छा गणितज्ञ कभी नहीं हो सकता। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ने का मुख्य उद्देश्य अंतःकरण का अर्थात् उसकी सब शक्तियों का समान संस्कार है जिसमें जब जिस शक्ति का प्रयोजन पड़े, उससे काम लिया जा सके। इससे हमें आँख मूँदकर विद्या के किसी एक ही विभाग की ओर संलग्न न हो जाना चाहिए। विवेचन-शक्ति का ऐसा अनन्य अभ्यास न करना चाहिए जिससे कल्पना की शक्ति मारी जाय; और कल्पना के व्यवहार की भी इतनी अधिकता न हो कि विवेचन की शक्ति मंद पड़ जाय। दोनों

का पल्ला एक हिसाब से रखा जाय—ठीक उसी प्रकार जैसे संगीत में बहुत से बाजे एक साथ बजते हैं; पर उनमें से कोई एक दूसरे को दबाकर ऊँचा नहीं होने पाता, सब इस क्रम से बजते हैं कि स्वर-मैत्री बनी रहे। यदि कोई बजाज दिन रात कपड़ों ही की बातचीत किया करे तो लोग ऊब जायँ और उसके पास कोई न बैठे। एक अनुभवी नीतिज्ञ कहता है—" जो कोई मनुष्य व्यवसायसंबंधी अध्ययन ही की ओर दत्त-चित्त रहेगा, संस्कार-शिक्षा की ओर मन न लगावेगा, उसे यह समझ रखना चाहिए कि व्यवसाय-शिक्षा चाहे कितनी ही पूर्ण हो, उसे व्यवसाय का पूरा परिज्ञान नहीं हो सकता। व्यवसाय की नियम-पद्धति में उसे अपने व्यवसाय का एक अत्यंत आवश्यक अंग सीखने को रह जायगा; उसे इसका बोध न होगा कि व्यवसाय की विशेष बातों का मनुष्य की सामान्य प्रवृत्तियों और भावनाओं से कैसा संबंध है। कानून ही के व्यवसाय को लो। एक ओर तो इससे बढ़कर कृत्रिम, आडंबरपूर्ण तथा भावुकता-शून्य दूसरा विषय नहीं, दूसरी ओर मनुष्य जाति के स्वत्व, उसकी स्वतंत्रता आदि से यह घनिष्ठ संबंध रखता है जिससे एक वकील के लिये सब बातों का थोड़ा बहुत जानकार होना जितना आवश्यक है, उतना अच्छा कानूनदाँ होना नहीं। जो मनुष्य विद्या के एक ही अंग में लिप्त रह जाता है, वह उस अंग का भी पूर्ण अधि-कारी नहीं हो सकता; क्योंकि विद्या के भिन्न भिन्न अंगों का

संबंध एक दूसरे से लगा हुआ है, वे एक दूसरे के आश्रित हैं। जो अपना सारा जीवन केवल व्याकरण ही में बिता देते हैं उनकी विद्या बुद्धि कैसी होती है, यह प्रकट ही है। जो आँख मूँदकर किसी एक ही विषय में लीन रह जाता है, संसार उसे मूर्खों की कोटि में समझता है। वह कुछ नहीं जानता। जहाज पर पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए कई बंदरगाहों पर उतरना पड़ता है, यदि विश्राम के लिये नहीं तो रसद के लिये सही। इसी से मेरा प्रत्येक मनुष्य से यह कहना है कि जहा तक हो सके, किसी एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करते हुए सब बातों की आवश्यक जानकारी प्राप्त करो और पूरे मनुष्य बनो। इससे उस विषय में भी उत्कृष्टता आवेगी और मानव जीवन भी सफल होगा। इसी ढंग से तुम उस विचार-संकीर्णता से बच सकते हो जो किसी एक ही विषय में मग्न रहनेवालों में पाई जाती है। सारांश यह कि पेशा वा व्यवसाय चाहे जो हो, जो लोग उस पेशे ही भर में रह जायँगे, वे उन चीनियों के समान एकांगदर्शी और संकीर्ण ज्ञान के हो जायँगे, जो अपने बनाए हुए भूगोल के नक्शे में चीन साम्राज्य के तो छोटे छोटे गाँवों तक को लिखते हैं, पर उसके आगे लिख देते हैं "अज्ञात मरुभूमि" वा "बर्बरों का देश"।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये यह आवश्यक है कि आहार के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के और भिन्न भिन्न गुण रखनेवाले पदार्थ हों। हमें ऐसी वस्तुओं का भोजन करना

चाहिए जिनसे रुधिर भी बने, मांस भी बने, मेद भी बने, अस्थि भी बने। मनुष्य रोटी ही पर नहीं रह सकते। यदि वे केवल रोटी ही खायँ तो उनके जोड़ों और पेशियों में फुरती न रहेगी, स्नायुओं की शक्ति चीण हो जायगी, हाथ पैर न उठेंगे और रक्त दूषित हो जायगा। जो दशा शरीर की है, वही आत्मा की भी है। अंत:करण तभी सशक्त और फुरतीला रह सकता है जब उसके पोषण के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएँ पहुँचाई जायँ। उसकी कल्पना की शक्ति को भी पोषण-सामग्री पहुँचानी होगी और विवेचना की शक्ति को भी—विवेक को भी पुष्ट रखना होगा और भावना को भी तीव्र रखना होगा। इस प्रकार अंत:करण को स्वस्थ और बलिष्ठ रखना ही पढ़ने का उद्देश्य है। अध्ययन से अंत:करण की सारी वृत्तियों का अभ्यास बढ़ता है, इससे बल और उत्साह भी प्राप्त होता है और आवश्यकतानुसार शांति भी आती है।

मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि पढ़ने का उद्देश्य चित्त में चेतावनी और उत्तेजना से भरी उत्तम उक्तियों को धारण करना भी है। इसी प्रकार पढ़ने का एक प्रयोजन यह भी है कि इतिहास, काव्य आदि से उत्कृष्ट कर्म्मों के दृष्टांतों को चुनकर उन्हें हृदय में अंकित करके सजावे—ठीक उसी भाँति जैसे गुणी चित्रकार अपनी चित्रशाला सजाता है। इन दृष्टांतों और घटनाओं को एक एक करके स्मृति के सम्मुख लाना, उनके ब्योरों पर ध्यान देना, उनके महत्त्व का चिंतन करना

और उनसे उपदेश ग्रहण करना कितना आनंददायक होता है ! वे चित्र जिन्हें पाठक अपनी स्मृति में उपस्थित करेंगे, उतने ही रंग बिरंग के होंगे जितने प्रकार के ग्रंथ वे देखेंगे। उन्हें भिन्न भिन्न जातियों के इतिहास से, श्रेष्ठ पुरुषों के जीवनवृत्तांतों से, कवियों की अलौकिक सृष्टि से, यात्रियों और अन्वेषकों की छानबीन से, वैज्ञानिकों के अनुसंधान से अनेक प्रकार के रुचिर और मनोरम दृश्य प्राप्त होंगे। वे वेद-व्यास अंकित महात्मा भीष्म के उस समय के पराक्रम को देखेंगे जब वे रथ पर चढ़े पांडव-सेना पर अनिवार्य्य अस्त्रों की वर्षा कर रहे थे, अपने बाणों के अखंड प्रवाह से पांडवों को विकल कर रहे थे, और अर्जुन ऐसे धीर और पराक्रमी पुरुष के छक्के छुड़ा रहे थे। उसके उपरांत फिर उन्हीं वृद्ध भीष्म पितामह को पाठक शरशय्या पर लेटे लेटे राजनीति और धर्म्म के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश करते देखेंगे। पाठक अपने स्मृतिक्षेत्र में देशभक्ति के और सच्ची वीरता के इस दृश्य को जब चाहें तब देख सकते हैं—"आज १६६२ संवत् के श्रावण मास की सप्तमी है। आज मेवाड़ के राजपूत 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमि के लिये प्राण देने को उद्यत हुए हैं। बादशाह अकबर की कई लाख सेना मानसिंह के साथ मेवाड़ पर अधिकार करने को आई है। मुगल सम्राट् सूर्य्यवंश पर कलंक की कालिमा लगाने पर उद्यत हैं। इधर मेवाड़ के वीर-शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंहजी इस वंश की पवित्रता को

अटल रखने के लिये प्राणपण से कटिबद्ध हैं। सच्चे क्षत्रिय वीर ने सच्चे क्षत्रियपन के गौरव की रक्षा का संकल्प विकल्प किया है। चिरस्मरणीय हल्दीघाट के मैदान में मेवाड़ के अवलंब और गौरव-स्वरूप केवल बाइस हजार राजपूत वीर इकट्ठे हैं और महाराणा प्रताप इनके नेता बनकर असंख्य मुगल सेना की गति का अवरोध करने को खड़े हैं।" पाठकों को इतना ही आभास दे देना बहुत होगा। वे स्वयं भिन्न भिन्न प्रकार की पुस्तकों से भिन्न भिन्न प्रकार के मनोहर दृश्य चुन लेंगे।

सच्चा विद्यानुरागी ज्ञानप्राप्ति का साधन इसलिये करेगा जिसमें वह अपना तथा दूसरों का हित-साधन कर सके। उसका मुख्य उद्देश्य उन शक्तियों की वृद्धि और परिष्कृति का साधन होना चाहिए जो उसे प्राप्त हैं। और उस साधन का मुख्य फल वह आनंद होना चाहिए जो ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति को पढ़ने का लाभ मैं और क्या बतलाऊँ? प्रसिद्ध अँगरेज विद्वान् बेकन का उपदेश है—"हमें खंडन मंडन करने के लिये, विश्वास और स्वीकार करने के लिये, तरह तरह की बात करने के लिये नहीं पढ़ना चाहिए, बल्कि विवेक और विचार के लिये पढ़ना चाहिए।" आगे चलकर उसने पठन, वार्तालाप और लेखन का भेद समझाया है कि पठन से पूर्णता, वार्तालाप से तत्परता और लेखन से यथार्थता आती है। इसी से वह कहता है—"यदि कोई मनुष्य थोड़ा लिखे तो समझना चाहिए कि उसे धारणा की आवश्यकता है;

यदि थोड़ा वार्तालाप करे तो समझना चाहिए कि उसमें उप-स्थित बुद्धि का अभाव है; और यदि थोड़ा पढ़े तो समझना चाहिए कि उसे चतुराई और समझ की आवश्यकता है।" बातचीत और लिखना दोनों बहुत प्रयोजनीय हैं। बातचीत व्यवहार-कुशल पुरुषों के लिये प्रायः पुस्तक का काम देती है। पर विद्यानुरागी के लिये पढ़ना एक बड़ा भारी मंत्र है जिसके प्रभाव से चिर-काल का संचित ज्ञान-भांडार उसके सामने खुल पड़ता है, वह सब काल के पुरुषों का समकालीन हो जाता है, और सब जातियों के विचारों का आगार बन जाता है, सैकड़ों पीढ़ियों के प्रयत्न का फल उसके हाथ में आ जाता है। यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य के कर्म्मों की व्यवस्था ज्ञान से प्राप्त होती है; और ज्ञान वही श्रेष्ठ है जो अनेक विषयों से संबंध रखता है। ऐसे ज्ञान का द्वार अध्ययन है।

पर अध्ययन वा पढ़ना है क्या वस्तु? बिना किसी उद्देश्य के यों ही सरसरी तौर पर पुस्तकों के पन्ने उलटते जाना, जैसा कि प्रायः लोग मनबहलाव के लिये अवकाश के समय किया करते हैं, पढ़ना नहीं है; बल्कि उनमें लिखी बातों को विचारपूर्वक स्थिर किए हुए नियमों और व्यवस्थाओं के अनुसार पूर्ण रूप से हृदय में ग्रहण और धारण करने का नाम पढ़ना है। आर्थर हेल्पस् कहते हैं—"प्रत्येक स्त्री पुरुष को, जो थोड़ा बहुत पढ़ सकता है, अपने पढ़ने का कोई उद्देश्य स्थिर कर लेना चाहिए। वह अपनी शिक्षा का कोई एक

मूल कांड मान ले जिससे चारों ओर शाखाएँ निकलकर उस मूल वृक्ष के लिये प्रकाश और वायु संचित करें जो आगे चलकर शोभायमान और उपयोगी निकले तथा बराबर फूलता फलता रहे। विद्यार्थी को इसका ध्यान सबसे पहले रखना चाहिए। यदि वह बिना नक्शे वा ध्रुवयंत्र के यों ही विद्या के अपार समुद्र में चल पड़ेगा और यह स्थिर न कर लेगा कि उसे किस बंदर की ओर चलना है, तो या तो उसकी नाव डूब जायगी या हवा और लहरों के झोंके खाती इधर उधर टकराती फिरेगी।" यहाँ पर कोई एक ऐसी युक्ति बतलाने की चेष्टा करना मूर्खता ही होगी जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लिये अध्ययन का मार्ग स्थिर करे। हाँ इतना कहा जा सकता है कि कोई पुरुष सरसरी तौर पर पढ़ने का अभ्यास न डाले, बल्कि अपने मानसिक संस्कार का ध्यान रखे। यदि वह ऐसा करेगा तो उसे कुछ दिनों में आप से आप मालूम हो जायगा कि क्या करना चाहिए। यद्यपि अध्ययन के लिये कोई ऐसी सटीक युक्ति नहीं बतलाई जा सकती, पर विद्यार्थी को जिन साधारण सिद्धांतों पर अपने अध्ययन का क्रम स्थिर करना चाहिए, वे निर्धारित किए जा सकते हैं।

सब से पहली बात तो यह है कि पढ़ना नियमपूर्वक होना चाहिए, अर्थात् उसके लिये नित्य कुछ समय रख लेना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बहुत ही आवश्यक बातों को छोड़ और दूसरी बातें उस समय के बीच

बाधक न होने पावें। यदि विद्यार्थी को जीविका के लिये कोई काम करना पड़ता हो, तो यह समय सुबीते के अनुसार ही रखा जा सकता है। बहुत करके ऐसे व्यक्ति को रात ही को ऐसा समय मिल सकता है जिसमें वह अपनी प्रिय पुस्तकों को हाथ में ले। अन्यथा सबेरे का समय ही एकाग्र चित्त से अध्ययन करने के लिये उपयुक्त होता है। उस समय चित्त बहुत तत्पर रहता है। रात भर के विश्राम से उसकी सारी शक्तियाँ काम करने के लिये तैयार रहती हैं। सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि वे नित्य सबेरे स्नानादि के उपरांत कुछ पद बनाकर तब जलपान आदि करते थे। यही बात कई भक्त कवियों के विषय में कही जाती है। प्रसिद्ध अँगरेज उपन्यासकार स्काट प्रातःकाल जलपान आदि करके दोपहर तक लिखता था। पर चाहे सबेरे का समय हो चाहे रात का, चाहे एक घंटे का समय लगाया जाय चाहे दो तीन घंटे का, उसका नियम बराबर रखना चाहिए। टेव ही सब कुछ है। प्रायः ऐसा होता है कि हमारा पढ़ने लिखने को जी नहीं चाहता, आलस्य मालूम होता है। इसे दृढ़तापूर्वक रोकना चाहिए, नहीं तो आत्मसंस्कार की सारी आशा धूल में मिल जायगी। इस बुरे प्रभाव से बचने की सब से अच्छी युक्ति यह है कि बाँधे हुए नियम का दृढ़तापूर्वक पालन करे, उसे टूटने न दे। हमारा चित्त सदा एक सा नहीं रहता। उसमें सदा एक सी तत्परता नहीं रहती। आज हम जिस बात को लेकर

आशा और उत्साह से भरे हैं, उसी बात से कल कोई आशा नहीं बँधती। प्रत्येक मनुष्य चित्त की इस चंचलता के वशीभूत है। पर यदि बुद्धि उदय होकर तुम्हें आलस्य छोड़ने और उत्साह के अभाव में भी कठपुतली की तरह चटपट काम कर चलने का आदेश करे और तुम उस काम को कर चलो, तो थोड़ी ही देर में देखोगे कि तुममें ज्यों का त्यों उत्साह आ गया है। फिर तुम सोचोगे कि हमने बहुत अच्छा किया जो आलस्य के फेर में पड़कर अपने नियमित विधान नहीं छोड़े। बुद्धि को साधना का सहारा दो, आलस्य और खिन्नता को अपने दृढ़ संकल्प द्वारा हटाओ; फिर देखोगे कि आलस्य तुम्हें आता ही नहीं और तुम्हारे चित्त में संयम और अध्यवसाय का संस्कार दृढ़ हो गया है।

दूसरी बात यह है कि पढ़ना समझ बूझकर हो, अर्थात् हम ग्रंथकार के भाव को ठीक ठीक समझने का उद्देश्य रखें, उसकी वाक्यरचना पर ध्यान दें, उसके पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष को समझें, उसकी त्रुटियों का पता लगावें तथा उसके सिद्धांतों की परीक्षा करें। हम जो पुस्तक पढ़ें, उसका मत भी देखें और अपना मत भी देखें। उस पुस्तक का अभिप्राय क्या है? उस अभिप्राय का साधन वह किस ढंग से करती है? क्या हम उसके अभिप्राय को पूर्ण रूप से समझते हैं और उसके साधन को अच्छी तरह निरीक्षण करते हैं? क्या उसमें किए हुए तर्क से हमारा समाधान होता है? क्या उसके

वर्णन हमारे चित्त में स्पष्ट दृश्य उपस्थित करते हैं ? उसमें वस्तुओं और व्यक्तियों के जो जो प्रसंग आए हैं, उन्हें हम अच्छी तरह समझते हैं ? सारांश यह कि क्या हमारा चित्त वही भाव ग्रहण करता है जो ग्रंथकार ने धारण किया था ? क्या हम उसी रूप से विवेचना करते हैं जिस रूप से उसने की थी ? क्या हमारे विचार में भी वैसा ही आया है जैसा उसके विचार में आया था ? यदि नहीं, तो क्या हम यह देख सकते हैं कि किन किन बातों में और कहाँ तक हम उससे सहमत नहीं हैं और क्यों सहमत नहीं हैं ? इन प्रश्नों का ठीक उत्तर बिना सूक्ष्मता के साथ डूबकर अध्ययन किए हुए नहीं दिया जा सकता। इस रीति से अध्ययन करने का कष्ट प्रायः नवयुवक नहीं उठाते। पर उन्हें समझ रखना चाहिए कि बिना इस ढंग से अध्ययन किए किसी अच्छे ग्रंथ वा बड़े ग्रंथकार का अभिप्राय पूर्ण रूप से समझ में नहीं आ सकता। यह प्रणाली पहले बहुत लंबी चौड़ी और कष्टसाध्य प्रतीत होगी, पर थोड़े दिनों के अभ्यास से हम इसका अनुसरण सहज में और जल्दी जल्दी करने लगेंगे। काल पाकर हमें इसकी टेव सी पड़ जायगी और हम झट झट पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते जायँगे और हमारा पढ़ना इसी प्रणाली के अनुसार आपसे आप होगा। पर यदि ऐसा भी न हो, तो भी इस प्रणाली से अध्ययन करने में जो अधिक समय और परिश्रम लगेगा, उससे भरपूर लाभ होगा। जो पुस्तक इस प्रकार समझ बूझ-

कर पूर्ण रूप से पढ़ी जायगी, वही सब दिन के लिये हमारी हो जायगी, उसके भाव हमारी नस नस में घुस जायँगे और उसका विषय हमारे ज्ञान का एक अंग हो जायगा। इस प्रकार पूर्ण रूप से दस पुस्तकों का पढ़ना साधारण रीति से सौ पुस्तकों के पढ़ने से अच्छा है। जो मुसाफिर डाकगाड़ी में बैठा रम्य से रम्य प्राकृतिक दृश्यों के बीच से होकर ३५ मील प्रति घंटे के हिसाब से भागा जाता है, वह भला क्या देख सुन सकता है? वह एक बड़े देश से होकर निकल जायगा, पर उसकी विशेषताओं को न जान सकेगा। एक बात और भी है। यदि इस प्रणाली का पूर्णतया अनुसरण किया जायगा तो पढ़ने में बड़ी सुगमता होगी; क्योंकि इसके द्वारा हम प्रस्तुत पुस्तकों की अच्छी बातों का पूरा आनंद लेते जायँगे। बहुत से नवयुवक यह कहते सुने जाते हैं कि मैंने यह पढ़ा है वह पढ़ा है; पर यदि उनसे पूछिए तो पुस्तक के नाम के सिवा वे और कोई बात नहीं बतला सकते। यह कोई पढ़ना नहीं है, इसे समझ बूझकर पढ़ना नहीं कह सकते। तुम किसी पुस्तक को तब तक पढ़ी हुई नहीं कह सकते जब तक कि उसका सार तत्त्व, उसके निरूपण की शैली, ग्रंथकार की तर्कना-प्रणाली तथा उसके सिद्धांतों को पुष्ट करनेवाले दृष्टांत तुम्हारे मन में बैठ न जायँ।

मैंने अध्ययन की उस प्रणाली से बहुत ही लाभ उठाया है जिसे उद्धरणी कहते हैं। इस प्रणाली में बार बार दोहराने

की क्रिया करनी पड़ती है जिससे पढ़ी हुई बात मन में बैठ जाती है। मैं पढ़ने में इसी प्रणाली का अनुसरण करता हूँ। जब मैं किसी पुस्तक का एक प्रकरण पढ़ चुकता हूँ, तब मैं पुस्तक को बंद कर देता हूँ और उसमें आई हुई मुख्य मुख्य बातों को फिर ध्यान पर चढ़ाता हूँ। इसी क्रम से मैं एक एक प्रकरण पढ़ता जाता हूँ। जब पुस्तक समाप्त हो जाती है, तब मैं सारी पुस्तक के विषय का अनुक्रम, एक एक प्रकरण करके, मन में धारण करता हूँ और इस प्रकार पुस्तक की सारी बातों को मन में दोहराता जाता हूँ। यह हो सकता है कि कोई मनुष्य बहुत सी पुस्तकें पढ़े और कुछ भी न जाने। पढ़ने का जो ढंग ऊपर बतलाया गया है, उसके अनुसार यदि कोई पढ़े तो उसे पुस्तकों के विषय पर पूरा पूरा अधिकार हो जायगा। यह ढंग जल्दी जल्दी पढ़ने के लिये तो उपयुक्त नहीं है, पर सम्यक् रूप से पढ़ने के लिये उपयुक्त है। जब कोई युवा पुरुष पढ़ना प्रारंभ करे, तब उसे चाहिए कि वह धीरे धीरे समझ बूझकर पढ़े। दूर जानेवाला कोई हरकारा जब अपनी यात्रा आरंभ करता है, तब धीरे धीरे चलता है; फिर ज्यों ज्यों पैर गरमाता जाता है, वह अपनी चाल बढ़ाता जाता है। यदि कोई पाठक पहले ही बहुत अधिक आगे बढ़ना चाहेगा तो उसका चित्त बहुत सी बातों के बोझ से घबरा जायगा और वह विषय को ग्रहण और धारण न कर सकेगा। प्राचीन काल के पंडित और विद्वान् आजकल के पंडितों और विद्वानों से एक बात में

अच्छे थे। उनके पास पुस्तकें तो थोड़ी ही सी रहती थीं, पर वे उन्हें अच्छी तरह पढ़ते थे। बहुत सी पुस्तकों ही से बोध नहीं हो जाता। बोध के लिये यह देखना आवश्यक नहीं है कि 'हमने कितना पढ़ा है' बल्कि यह देखना आवश्यक है कि 'हमें कितना उपस्थित है'। एक अनाड़ी किसान सौ बीघे में भी उतनी फसल नहीं पैदा कर सकता, जितनी एक चतुर किसान पचास बीघे में कर सकता है।

पढ़ने के समय एक नोट बुक रख लेने से बड़ी सहायता मिल सकती है। जो पुस्तक तुम पढ़ो, उसके उत्तम और चमत्कारपूर्ण अंशों को उसमें अक्षरक्रम से या और किसी क्रम से टाँकते जाओ। पढ़ते समय हाथ में एक पेंसिल भी रखो और (यदि पुस्तक तुम्हारी हो तो) पृष्ठ के किनारे ऐसे स्थलों पर निशान करते जाओ जो बार बार पढ़ने योग्य हों, जिनमें कोई सुंदर उक्ति हो, जो संदिग्ध हों, अथवा जिनके विषय में छानबीन आवश्यक हो। पठन-प्रणाली के कई एक लेखकों ने पुस्तक पर निशान करने के लिये इतने प्रकार के चिह्न बनाए हैं कि यदि कोई पाठक उनका व्यवहार करे तो सारी पुस्तक ही रँग जाय। पर मैंने जहाँ तक अनुभव किया है, केवल चार चिह्नों ही से काम चल जाता है। वे चार चिह्न ये हैं—

। इस चिह्न से यह सूचित होता है कि जहाँ यह लगा है, उस स्थल का भाव या उक्ति सुंदर है।

×इससे ऊपरवाले चिह्न का उलटा अभिप्राय समझना चाहिए।

? इस चिह्न से यह अभिप्राय है कि बात संदिग्ध वा अयथार्थ है।

० यह सूचित करता है कि कथन कहाँ से उद्धृत है, वा विचार कहाँ से लिए गए हैं।

बहुत से चिह्नों का आडंबर रखने से पढ़ने में सुविधा न होगी, रुकावट ही होगी, क्योंकि पढ़नेवाले का ध्यान इन्हीं चिह्नों की ओर रहेगा, विषय की ओर न रहेगा। उसका पढ़ना इसी प्रकार होगा जैसे कोई रास्ते में मील और फरलाँग के पत्थर गिनता चले और चारों ओर के रमणीय दृश्यों और विशेषताओं की ओर ध्यान न दे।

पढ़ने में विषयों का विभाग भी अत्यंत प्रयोजनीय है। हमें ऐसी शक्ति प्राप्त करनी चाहिए कि जिस धारण करने योग्य विचार का एक बार हमारे चित्त में संचार हो, उसे हम धारण कर लें। 'नोट बुक' और चिह्नों से, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, विषय-विभाग में बड़ी सहायता मिलेगी; पर सब से अधिक सिद्धि अंत:करण में स्थिति, अन्वय और व्यतिरेक की शक्ति की साधना से होगी। पाठक को अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने का अभ्यास करना चाहिए। ज्यों ज्यों वह पढ़ता जाय, त्यों त्यों उन भावों और विषयों को क्रमबद्ध करता जाय जो उसके सामने आवें।

विषयों के अध्ययन का कोई क्रम होना चाहिए। इस क्रम का अभाव बड़ी भारी भूल है जो प्रायः नवयुवकों से हुआ करती है। वे काव्य पढ़ते पढ़ते इतिहास पढ़ने लगते हैं, इतिहास छोड़कर तर्कविद्या की ओर झुकते हैं, फिर उपन्यास हाथ में लेकर बैठते हैं; सारांश यह कि जैसे भिखमंगे एक द्वार से दूसरा द्वार देखा करते हैं, वैसे ही वे एक विषय से दूसरे विषय की ओर जाया करते हैं। वे लोहे की खान खोदते खोदते ताँबे की खान खोदने लगते हैं, फिर सीसे की खान की ओर लपकते हैं। तात्पर्य यह कि एक एक करके वे प्रत्येक विषय का पल्ला चूमते हैं, पर किसी में भी कुछ काल तक नहीं लगे रहते। इस प्रकार का पढ़ना अध्ययन के उद्देश्य और अभिप्राय का साधक नहीं बाधक होता है। इससे चित्त सदा चंचल और अस्थिर रहता है; और बहुत से विषयों का बोझ लाद देने से बुद्धि स्तब्ध और शिथिल हो जाती है। सोचना चाहिए कि पढ़ने का उद्देश्य क्या है। जैसा कि बेकन ने कहा है—"पढ़ना खंडन मंडन करने, वा मानने मनाने के लिये नहीं होता, बल्कि विचार और विवेक के लिये होता है।" अस्तु; हम लोग जो कुछ पढ़ें, एक क्रम के साथ पढ़ें जिसमें जो कुछ हम पढ़ें, उसे अच्छी तरह समझें बूझें। पढ़ना हमें केवल ज्ञान की सामग्री प्रदान करता है, विषय में पूर्ण प्रवेश चिंतन से होता है। जिस प्रकार चौपाए एक बार जो कुछ खाते हैं, उसे फिर जुगाली के द्वारा कई बार कुचलते

हैं, तब वह उनके शरीर में लगता है, उसी प्रकार अध्ययन में बिना चर्वित चर्वण के ज्ञान प्रौढ़ नहीं होता। यों ही मोटे तौर पर बहुत से विषयों का स्पर्श करते रहने से ज्ञान के भांडार की वृद्धि नहीं होती; क्योंकि दूसरों के कथन को न हम ठीक ठीक दोहरा सकते हैं और न उनके तर्क और प्रमाण को अपने हृदय में उपस्थित कर सकते हैं। इस प्रकार की जानकारी वैसी ही होती है जैसी सुनी सुनाई बातों की। इस प्रकार की जानकारी जो कभी कहीं प्रकट करता है, तो उसका आधार या तो कुछ रटे हुए वाक्य होते हैं या बिना सोचे समझे सिद्धांत।

मान लीजिए कि किसी ने 'महाराष्ट्र जाति के अभ्युदय का इतिहास' पढ़ने में लग्गा लगाया है। उसके लिये देश की उस अवस्था की पूरी छानबीन करनी चाहिए जो महाराष्ट्र आधिपत्य के समय में थी। पहले तो उसे तत्कालीन लेखकों के दिए हुए वृत्तांतों का पूरा परिचय प्राप्त करना चाहिए जिसमें घटनाओं का क्रम उसे ठीक ठीक विदित रहे, जिसमें उसके सहारे पीछे के इतिहास-लेखकों के सिद्धांतों और अनुमानों की वह पूर्ण परीक्षा कर सके। इस ढंग से जिस विषय को विद्यार्थी उठावे, उसका अंत तक अध्ययन करे; यह नहीं कि बीच में किसी अन्य विषय की कोई अच्छी पुस्तक देखी तो सब छोड़ छाड़कर उसी की ओर लपक पड़े। समय समय पर सब विषयों का अनुशीलन करना चाहिए, पर जो विषय हाथ में हो उसे एक ठिकाने पर छोड़ना चाहिए। उस

किसान को लोग क्या कहेंगे जो एक खेत में दो कूँड डालकर हल बैल लेकर दूसरे खेत में पहुँचता है, फिर दूसरे से तीसरे में ? लोग यही कहेंगे कि वह ऐसा काम करके अपना समय और श्रम नष्ट करता है। विचार कर देखिए तो यही दशा बहुत से पाठकों की पाई जायगी। वे बड़ी उतावली के साथ कभी एक विषय को हाथ में लेते हैं, कभी दूसरा विषय उठाते हैं, कभी थोड़ा इधर पढ़ते हैं, कभी थोड़ा उधर, कभी इतिहास का एक प्रकरण पढ़ते हैं, फिर गणित की कोई क्रिया करने लगते हैं। इसका फल क्या हो सकता है ? बिना किसी क्रम और व्यवस्था के धारणा में बहुत सी ऊटपटाँग और बेमेल बातों को स्थान देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। जैसे और सब बातों में वैसे ही पढ़ने के विषय में भी पक्का सिद्धांत यही है कि एक समय में एक ही चीज पढ़ी जाय, और अच्छी तरह पढ़ी जाय। तीन घोड़ों पर चढ़कर केवल सरकसवाले निकलते हैं, पर सवार जिसे किसी दूर प्रदेश में जाना रहता है, एक ही जँचे हुए घोड़े पर चढ़कर निकलता है। वह अस्थिर चित्त का मनुष्य जो कभी कविताएँ लिखता है, कभी पुरातत्त्व में टाँग अड़ाता है, कभी राजनैतिक विषयों पर व्याख्यान देता है, किसी एक में भी प्रवीणता नहीं प्राप्त कर सकता। सच्चे विद्यार्थी को इस प्रकार की कुदान और सरसरी पढ़ाई से दूर रहना चाहिए, यह न समझना चाहिए कि बहुत से विषयों का पन्ना चूमने से ही आदमी कुछ

सीख सकता है या बहुत सी पुस्तकें उलटने ही का नाम खूब पढ़ना है। एक अनुभवी ग्रंथकार का उपदेश ध्यान देने योग्य है जो कहता है—"साधारणतः पढ़ने की ओर प्रवृत्ति आनंद और शिक्षा के लिये होती है। इससे युवा पुरुष का पढ़ना ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ श्रम मालूम हो और जिसका कुछ विशिष्ट उद्देश्य हो। जिसमें कुछ श्रम पड़ता है, उससे अंतःकरण की सब शक्तियों पर जोर पड़ता है; और कोई विशेष उद्देश्य रखकर हम जो कुछ पढ़ते हैं, उसको धारणा जितनी दृढ़ता के साथ ग्रहण करती है, उतनी दृढ़ता के साथ यों ही सरसरी तौर पर पढ़ी हुई बातों को नहीं।"

एक बात और है। विद्याभिलाषी जो कुछ पढ़े, उसे आलोचनापूर्वक पढ़े। इसी सिद्धांत की ओर लक्ष्य करके एक विद्वान् कहता है—"कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें सरसरी तौर पर ही पढ़ने के लिये एक आदमी की पूरी उमर चाहिए, कुछ ऐसी होती हैं जो पढ़ने में सहायक मात्र होती हैं और जिनका काम समय समय पर पड़ता है, कुछ ऐसी होती हैं जो केवल खुशामद वा शिष्टाचार के निमित्त लिखी जाती हैं और जिनका केवल देख लेना ही पढ़ जाना है।" इन भारी भारी पुस्तकों, सहायक पुस्तकों और शिष्टाचार की पुस्तकों को अलग रखकर विद्यार्थी को ऐसी ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ जो उसे कुछ सिखावें, जो यह बतलावें कि कैसे जीना और कैसे मरना होता है, जो उसकी धारणा में उत्तम ज्ञान

का भांडार भर दें और कल्पना में उत्तम उत्तम चित्र अंकित कर दें, उसके श्रेष्ठ मनोवेगों को उभाड़ें तथा हृदय की पवित्र और मृदुल भावनाओं को प्रेरित करें। उसे अपने पढ़ने के लिये पुस्तकें बहुत सोच विचार कर चुननी चाहिएँ, क्योंकि जो समय बुरी पुस्तक देखने में जाता है, वह नष्ट हो जाता है; और नष्ट करने के लिये विद्यार्थी को समय नहीं मिल सकता। अच्छी पुस्तकों की भी तीन श्रेणियाँ हैं—एक तो वे पुस्तकें जिनका ऊपर बताए हुए ढंग से पूर्ण अनुशीलन करना चाहिए, दूसरी वे पुस्तकें जिनका दो तीन बार पढ़ जाना ही काफी है, तीसरी वे जिन्हें एक बार से अधिक पढ़ने की आवश्यकता नहीं। जैसे और सब काम करने के वैसे ही पढ़ने के भी तीन ढंग हैं—साधारण पढ़ना, अच्छी तरह पढ़ना, खूब अच्छी तरह पढ़ना। पर इस अंतिम ढंग से पढ़ने के योग्य पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं! ऐसी पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं जिनके विषय में मिल्टन की यह उक्ति चरितार्थ होती हो कि "पुस्तकों में वैसी ही क्रियमाण जीवन-शक्ति उत्पन्न करने का गुण होता है जैसी उनके लिखनेवालों की आत्मा में थी।" पुस्तकों में उनके कर्त्ताओं की पवित्र बुद्धि का सार खींचकर रखा रहता है, जिनके सेवन से मननशील पुरुषों में ज्ञानशक्ति का संचार होता है।

मिल्टन ने आलोचनापूर्ण अध्ययन को कर्त्तव्य ठहराकर इस बात का पक्ष लिया है कि पुस्तकों के प्रकाशन में किसी

प्रकार की बाधा राज्य की ओर से न होनी चाहिए, सब प्रकार की पुस्तकें छपें और प्रकाशित हों। बहुत से धार्मिक महात्मा हो गए हैं जो नास्तिकों की लिखी पुस्तकों को बराबर देखते थे। एक धर्मात्मा साधु के विषय में मिल्टन ने लिखा है—"वह मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार कोई पाप नहीं करना चाहता था। एक दिन सोचते सोचते वह इस उलझन में पड़ गया कि मैं कैसी बातों पर विचार करूँ। इसी बीच में उसे दैवी स्वप्न हुआ कि चाहे जो पुस्तक तेरे हाथ में आवे, उसे तू पढ़ डाल; क्योंकि तेरी बुद्धि सत्य का निर्णय करने और प्रत्येक विषय की ठीक ठीक परीक्षा करने के योग्य है।" जिसे पर्य्यालोचन का अभ्यास हो जाता है, वह सब प्रकार की बातें पढ़ता है; पर उनमें जो अच्छी होती हैं, उन्हीं को ग्रहण करता है।

मिल्टन ने आगे चलकर फिर कहा है—"पवित्र मनुष्य के निकट सब वस्तुएँ पवित्र हैं, खान पान ही नहीं, सब प्रकार का पढ़ना भी, चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यदि अंतःकरण शुद्ध है, तो किसी प्रकार का पढ़ना वा किसी प्रकार की पुस्तकें उसे कलुषित नहीं कर सकतीं। पुस्तकें भोजन की सामग्री के समान हैं जिनमें कुछ अच्छी होती हैं, कुछ बुरी। लोग अपनी रुचि के अनुसार उनको चुन सकते हैं। जिसकी पाचन-शक्ति बिगड़ गई है, उसके लिये अच्छा भोजन और बुरा भोजन क्या? इसी प्रकार दुष्ट प्रकृतिवाले के

लिये उत्तम से उत्तम पुस्तकें भी अच्छे उपयोग में नहीं लाई जा सकतीं। पर पुस्तकों और खान-पान की वस्तुओं में यह एक अंतर है कि निकृष्ट भोजन स्वस्थ से स्वस्थ शरीर को भी पोषण नहीं कर सकता, पर निकृष्ट पुस्तकें पर्य्यालोचन की शक्ति रखनेवाले विवेक-शील पाठकों को पता लगाने, खंडन करने, सावधान करने और दृष्टांत देने में सहायता देती हैं।" मिल्टन का यह कथन वहीं तक स्वीकार किया जा सकता है जहाँ तक उसका संबंध राज्य की ओर से पहुँचाई जानेवाली बाधा को रोकने से है। वह विद्यार्थी के अनुसरण के योग्य नहीं है। राज्य की ओर से पुस्तकों के विषय में किसी प्रकार का बंधन होना अनुचित है, पर विद्यार्थी के लिये आवश्यक और उपयोगी है। उसे इस बात के ऊपर कभी न जाना चाहिए कि शुद्ध अंतःकरणवाले के लिये सब कुछ पवित्र है; क्योंकि बड़ी कठिनाई तो यह है कि हम निर्णय नहीं कर सकते कि कौन सी वस्तुएँ पवित्र हैं। बचपन से लेकर बराबर हम बुराई की ओर ले जानेवाली बातों से घिरे रहते हैं। ऐसी अखंड पवित्रता कितनों में पाई जाती है, जिन पर बुराइयों के संसर्ग से कुछ कल्मष न लगे? बहुत सी पुस्तकें ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर कोई युवा पुरुष बिना हानि उठाए नहीं रह सकता। यदि ऐसा भी हो सकता हो, यदि काजल की कोठरी में जाकर वह कालिख से बच भी सकता हो, तो भी उसे कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। पहाड़ पर चढ़कर कंकड़

चुनने से क्या लाभ ? नदियों और तालों में मोती नहीं मिल सकते। कुरुचिपूर्ण पुस्तकों में समालोचक लोग रचना के चाहे कितने ही चमत्कार दिखलावें, पर उनकी कुप्रवृत्ति के कलंक को नहीं मिटा सकते। ग्वाल, देव आदि कवियों में रस और अलंकार की पूर्णता और उक्तियों की अपूर्वता का जो आनंद है, वह उस हानि से घटकर है जो पाठक को उनकी विलास-वासनापूर्ण वाक्यावली से हो सकती है। इससे हमें क्या पढ़ना चाहिए, इसका पूर्ण विचार रखना चाहिए, अच्छी पुस्तकों का ग्रहण और बुरी पुस्तकों का त्याग करना चाहिए, हमें यह देख लेना चाहिए कि कौन पुस्तकें पवित्र और सारगर्भित हैं और कौन पुस्तक अपवित्र और निःसार। मन, वचन और कर्म्म से किए हुए पापों के लिये हम उत्तरदाता हैं और पढ़ने का संबंध मन से है। प्रसिद्ध अँगरेजी उपन्यास-लेखक स्काट ने जब जाना कि उसके अंतिम दिन निकट आते जाते हैं, तब उसने कहा—"अब मेरे जीवन का अंतिम दिन निकट आता जाता है, अब मैं इस संसार रूपी रंगभूमि से विदा होना चाहता हूँ। मैंने अपने समय में सब से अधिक पुस्तकें लिखीं और मुझे यह सोचकर परम संतोष है कि मैंने अपनी पुस्तकों द्वारा किसी मनुष्य का धर्म-विश्वास डिगाने या किसी मनुष्य का सिद्धांत दूषित करने का प्रयत्न नहीं किया। मैंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी है जिसे मृत्युशय्या पर पड़ने के समय मैं मिटा देना चाहूँ।" इसी प्रकार

जब हमारी आयु पूरी होती दिखाई देगी, जब हमारे जीवन का अवसान निकट जान पड़ेगा, तब हमें यह सोचकर बड़ी शांति होगी कि हमने ऐसी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी जिसे मृत्युशय्या पर पड़ने के समय हम भूल जाना चाहें।

मैंने अब तक जो कुछ कहा है, वह कुवासनापूर्ण पुस्तकों ही को लक्ष्य करके; पर मेरी चेतावनी ऐसी पुस्तकों के विषय में भी है जिनकी रचना दूषित है, जो आडंबर-पूर्ण कृत्रिम शब्दावली से भरी हैं, जिनकी वर्णनशैली भद्दी और जिनके विचार निकम्मे हैं, और जिनकी ओर ध्यान देना समय और श्रम को नष्ट करना है। रसविहीन शब्दाडंबर-पूर्ण काव्य, बनावटी इतिहास, प्रचलित संशयवाद, उद्वेगपूर्ण उपन्यास, इनको विद्यार्थी अपने मार्ग से दूर रखे, क्योंकि वे उसकी उन्नति में बाधक ही होंगे। महात्मा लोग कह गए हैं कि ऐसी बातों को ग्रहण करना चाहिए जो ऊँची हों। पर यदि हम अंत:करण को मूर्खता, प्रमाद और असत्य द्वारा पतित होने देंगे तो यह कैसे हो सकेगा? पुस्तकालयों और विद्यार्थियों के लिये महात्माओं का यह उपदेश कितना अमोल है! पढ़ना उसी को चाहिए जिससे कुछ शिक्षा मिले, न कि केवल उद्वेग उत्पन्न हो; जिससे कुछ आवे, न कि केवल ऊल-जलूल विचार हो। अध्ययन सूर, तुलसी ऐसे कवियों का करना चाहिए जो मानव-प्रकृति को प्रत्यक्ष करते हैं; ग्वाल और देव ऐसे कवियों का नहीं जो विषय-वासना को

उत्तेजित करते हैं। पढ़ने में इसको अपना अटल सिद्धांत रखना चाहिए।

अब पूछो कि यह कैसे जानें कि कौन सी पुस्तकें अच्छी और पढ़ने योग्य हैं और कौन सी पुस्तकें बुरी और रद्दी में फेंकने योग्य हैं, तो मैं यही कहता हूँ कि इस विषय में लोकमत और परंपरागत आलोचना को प्रमाण मानकर चलना चाहिए। बुरी पुस्तकों पर संसार ने कलंक का टीका लगा दिया है, जो प्रत्यक्ष है। यदि तुम आँख खोलकर देखोगे तो वह स्पष्ट दिखाई देगा। यंत्रालयों से जो अनेक प्रकार की पुस्तकें नित्य निकला करती हैं और जो पदयोजना तथा वर्णन-शैली की विलक्षणता के कारण कुछ दिनों तक बहुत प्रिय रहती हैं, उनके विषय में यह सहज में निश्चित किया जा सकता है कि उनके पढ़ने से कोई लाभ होगा या नहीं। एक प्रकरण क्या, एक पृष्ठ ही पढ़ने से उनका उद्देश्य और भाव प्रकट हो जायगा। स्थालीपुलाकन्याय से एक चावल से सारी बटलोई का पता चल जाता है। एक चावल जिसे अच्छा लगेगा, वह बटलोई का भात रुचि के साथ खायगा; यदि कच्चा या जला मालूम होगा, तो छोड़ देगा। जब मैं कुछ पढ़ता हूँ, तब किसी अच्छे उद्देश्य से पढ़ता हूँ। बहुत सी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें देखते ही प्रकट हो जाता है कि वे उन सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं, जिन्हें मैं उत्तम समझता हूँ। ऐसी पुस्तकों के विषय में मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे उन्हें पढ़ना ही

चाहिए। यदि कोई मनुष्य मुझसे आकर कहे कि मैं बड़ी गूढ़ युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध करूँगा कि दो और दो पाँच होते हैं, तो मुझे उसकी बातें सुनने की अपेक्षा और बहुत से जरूरी काम हैं। यदि मुरब्बे का एक टुकड़ा मुँह में रखते ही मुँह का स्वाद बिगड़ जाय, तो हमें यह देखने के लिये कि मुरब्बा रखना चाहिए या नहीं, सब का सब खाने की आवश्यकता नहीं है। बीस भागों में समाप्त किसी बड़े, पर साधारण ग्रंथ के तीन चार भाग पढ़कर ही हमें ग्रंथकार की शक्ति और पहुँच का अंदाज कर लेना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि यदि हम बीसों भाग पढ़ जायँगे, तो भी हमें कोई उच्च भाव, गंभीर अन्वीक्षण वा हृदय का सच्चा उद्गार न मिलेगा। ऐसे बीस भागों को पढ़ने से कोई लाभ नहीं। ऐसे बहुत से लोग पाए जाते हैं जो किसी फल की कामना से वा किसी देवता को प्रसन्न करने के लिये किसी ग्रंथ का पाठ, बिना उसके अभिप्राय से कोई संबंध रखे हुए, सप्ताह वा महीने के भीतर जैसे तैसे समाप्त करते हैं। विद्यार्थी को ऐसी कोई आफत नहीं पड़ी है। हमें क्या पड़ी है कि हम किसी अपरिचित की निकम्मी बातें सुनने जायँ? इसी प्रकार हमें क्या पड़ी है कि हम कोई बुरी पुस्तक पढ़ने जायँ? जिस प्रकार हम एक से अपना पीछा छुड़ाते हैं, उसी प्रकार दूसरी से भी अपना पीछा क्यों न छुड़ावें?

छठा प्रकरण

स्वास्थ्य-विधान

"धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीरं साधनं परम्"

इस बात का विश्वास उन्नति के लिये परम आवश्यक है कि स्वास्थ्य-रक्षा मनुष्य का प्रधान धर्म है। बहुत कम लोग यह अच्छी तरह समझते हैं कि शरीर का संयम भी मनुष्य के कर्त्तव्यों में से है। जब तक शरीर है, तभी तक मनुष्य सब कुछ कर सकता है। लोग बात बात में प्रकट करते हैं कि शरीर उनका है, वे जिस तरह चाहें, उसे रखें। प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने से जो बाधा होती है, उसे वे एक आकस्मिक आपत्ति समझते हैं, अपने किए का फल नहीं समझते। यद्यपि इस शारीरिक व्यतिक्रम का कुफल भी कुटुंब और परिवार के लोगों को उतना ही भोगना पड़ता है जितना और अपराधों का, पर इस प्रकार का व्यतिक्रम करनेवाला अपने को अपराधी नहीं गिनता। मद्यपान से जो शारीरिक व्यतिक्रम होता है, उसकी बुराई तो सब लोग स्वीकार करते हैं; पर यह नहीं समझते कि जैसे यह शारीरिक व्यतिक्रम बुरा है, वैसे ही सब शारीरिक व्यतिक्रम बुरे हैं। बात यह है कि स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन भी पाप है। आत्म-

संस्कार की वह शिक्षा अधूरी ही समझी जायगी जिसमें शरीर-संयम की व्यवस्था और स्वास्थ्य-रक्षा का विधान न होगा। इसी से बड़े बड़े विद्यालयों में, जिनमें वैज्ञानिक शिक्षा का पूर्ण प्रबंध है, शरीर-विज्ञान को अच्छा स्थान दिया जाता है। हमारे कल्याण के लिये जैसे गणित के नियमों और शब्दों के रूपों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, वैसे ही शरीर-यंत्र की उन क्रियाओं का जानना भी परम आवश्यक है जिनके द्वारा जीवन की स्थिति रहती है। जब शरीर अस्वस्थ रहता है, तब चित्त भी ठीक नहीं रहता। प्रौढ़ बुद्धि और सूक्ष्म विवेक के लिये पुष्ट शरीर का होना आवश्यक है। शरीर की रक्षा करना प्रत्येक धार्मिक का कर्त्तव्य है; क्योंकि "शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्"। ईश्वर के सामने हमें इसका हिसाब देना होगा कि हमने उससे प्राप्त की हुई शक्तियों का ठीक ठीक उपयोग किया है। इसके लिये समाज के प्रति भी हम उत्तरदाता हैं, क्योंकि उसका कल्याण प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण पर निर्भर है। सब से अधिक तो हमारे व्यतिक्रम का परिणाम हमारे ही ऊपर पड़ेगा; क्योंकि हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम किसी शारीरिक शक्ति पर अत्यंत अधिक जोर न डालें।

स्वास्थ्य का बड़ा भारी नियम इस रूप में कहा जा सकता है। शरीर की शक्तियों का जो नित्यशः क्या प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, उसकी पूर्ति का ठीक ठीक प्रबंध परम आवश्यक है। शरीर की जो गरमी बराबर निकलती रहती है

और उसके संयोजक द्रव्यों का जो क्षय होता रहता है, उसकी कड़ी सूचना भूख और प्यास के वेग द्वारा मिलती है। जिस प्रकार किसी सेना के सिपाही अधिपति से कहते हैं कि और सामग्री लाओ, नहीं तो हड़ताल कर देंगे, उसी प्रकार शारीरिक शक्तियाँ भी शरीर से अपनी पुकार सुनाती हैं और काम बंद करने की धमकी देती हैं। बुद्धिमान् मनुष्य अपना लाभ सोचकर उनकी सूचना पर ध्यान देता है और उन्हें आवश्यकता के अनुसार ताजी हवा, अन्न और जल पहुँचाता है। जिन अवयवों से स्वच्छ वायु का उपयोग होता है, उन्हें श्वास-वाहक अवयव कहते हैं, जो भोजन ग्रहण करते और उसका रस तैयार करते हैं, उन्हें पाचक अवयव कहते हैं; जो सारे शरीर में रक्त द्वारा वायु और रस का संचार करते हैं, वे संचारक अवयव कहलाते हैं; और जो शरीर के अनावश्यक द्रव्यों को बाहर करते हैं, वे मल-वाहक अवयव कहलाते हैं। बहुत सी अवस्थाओं में तो अधिकतर यह मनुष्यों ही के वश की बात है कि वे इन अवयवों को स्वस्थ दशा में रखें, जिसमें वे अपना काम ठीक ठीक कर सकें। यदि वे ऐसा न करेंगे तो उनके शरीर के भीतर जो क्षय होता है, वह पोषण की अपेक्षा अधिक होगा, जिसका परिणाम रोग और मृत्यु है। उनका मस्तिष्क और हृदय भी, जो जीवन के आधार हैं, अशक्त होने के कारण अपना काम छोड़ देंगे। पर जो लोग इस विषय में अपने लाभ और कर्त्तव्य को विचारेंगे, वे दो बातों

का पूरा ध्यान रखेंगे, भोजन का और व्यायाम का। व्यायाम संचारक अवयवों को रस का ठीक ठीक संचार करने में सहायता देता है। भोजन संचारक और मलवाहक अवयवों की क्रिया का उपक्रम करता है। स्वास्थ्य के लिये और बहुत सी बातों का विचार रखना होता है, जैसे ताजी हवा और ऋतु के अनुकूल कपड़े लत्ते का, विश्राम और नींद का इत्यादि इत्यादि। पर मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य भोजन और व्यायाम के विषय में पूरी चौकसी रखे तो वह भला चंगा रह सकता है। यह भी आवश्यक है कि मनुष्य सफाई से रहे और कोई ऐसा व्यवसाय न करे जो स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो।

भोजन के विषय में पक्का सिद्धांत यह है कि न बहुत अधिक खाय और न बहुत कम। अधिक खाने से कभी कभी जितनी हानि हो जाती है, उतनी कम खाने से नहीं होती। यदि तुम पक्काशय और अँतड़ियों पर इतना बोझ डालोगे कि वे उसे सँभाल न सकें, तो उनका काम बंद हो जायगा। इस विषय में संयम का ध्यान बराबर रखना चाहिए और इस बात को समझना चाहिए कि हम जीने के लिये खाते हैं, खाने के लिये नहीं जीते। भोजन उतना ही करना चाहिए जितने में तुष्टि हो जाय; उसके ऊपर केवल मजे के लिये खाते जाना ठीक नहीं है। शरीर के पोषण के लिये यह आवश्यक है कि जो कुछ हम खायँ, उसमें कई

प्रकार के द्रव्य हों, जैसे सत्त (जो आटे, मांस, अंडे, छेने आदि में होता है), चिकनाई (जो दूध, घी, चरबी, तेल आदि में होती है), लसी (जो चीनी, साबूदाने, शहद आदि में होती है), और खनिज पदार्थ (जो पानी, नमक, चार आदि में होता है)।

स्वास्थ्य के लिये जैसे यह आवश्यक है कि भोजन बहुत अधिक न किया जाय, वैसे ही यह बात भी आवश्यक है कि कोई एक ही प्रकार की वस्तु बहुत अधिक न खाई जाय। हमें मिला जुला भोजन करना चाहिए; अर्थात् हमारे भोजन में कई प्रकार की चीजें रहनी चाहिएँ जिसमें आवश्यक मात्रा में वे सब द्रव्य पहुँचे जिनसे शरीर का पोषण होता है और उसमें शक्ति आती है। कोई पदार्थ बराबर भोजन का काम नहीं दे सकता अर्थात् शरीर के चय को नहीं रोक सकता, जब तक कि उसमें शरीर-तंतु बनानेवाला सत्त न हो। जिस पदार्थ में यह सत्त आवश्यक मात्रा में होता है, वही बराबर आहार के लिये उपयोगी हो सकता है। खनिज अंश का भी उसमें रहना आवश्यक है। लसी वा चिकनाई दो में से एक भी हो, तो काम चल सकता है।

यद्यपि भोजन में सत्तवाले पदार्थों का उपयोग बहुत होता है, पर उन्हें अधिक मात्रा में खाने से खर्च भी अधिक होता है। एक जवान आदमी को शरीर की पूर्ति के लिये ४००० ग्रेन कारबन और ८०० ग्रेन नाइट्रोजन की आवश्यकता होती

है। सत्तवाले पदार्थों में साधारणतः सैकड़े पीछे ५३ भाग कारबन और १५ भाग नाइट्रोजन होता है। अतः ४००० ग्रेन कारबन के लिये मनुष्य को ७५०० ग्रेन सत्त खाना चाहिए। ७५०० ग्रेन में ११०० ग्रेन नाइट्रोजन होता है जो आवश्यक से चौगुना है। इससे सत्त ही अधिक खाने से मेदे पर बहुत जोर पड़ता है और आँतों को फालतू नाइट्रोजन निकालने में बड़ा परिश्रम पड़ता है। स्निग्ध पदार्थों (घी, मक्खन, तेल आदि) तथा चीनी आदि में कारबन का भाग बहुत अधिक होता है और नाइट्रोजन कुछ भी नहीं होता। भोजन के साथ घी वा मक्खन आदि मिला लेने से सत्त की बहुत कुछ आवश्यकता पूरी हो जाती है। भोजन में कुछ चीनी आदि का रहना भी उपकारी है।

भोजन के विषय में ठीक ठीक कोई नियम निर्धारित करना असंभव है। प्रत्येक मनुष्य को अपने निज के अनुभव द्वारा यह देखना चाहिए कि उसे क्या क्या वस्तु कितनी कितनी खानी चाहिए। लोगों की प्रकृति जुदा जुदा होती है। कुछ लोग मांस नहीं खा सकते, कुछ लोग रोटी नहीं पचा सकते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनका पेट उरद की दाल खाते ही बिगड़ जाता है। सारांश यह कि प्रत्येक मनुष्य आप यह निश्चित कर सकता है कि उसे कौन सी वस्तु अनुकूल पड़ती है और कौन प्रतिकूल। उसे यह उपदेश देने की उतनी आवश्यकता नहीं है कि तुम यह खाया करो, यह न खाया

करो। ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि भोजन भिन्न भिन्न प्रकार का हो और उसमें संयम रखा जाय। दो चार बातें बतलाने की हैं। एक भोजन के उपरांत फिर दूसरा भोजन कुछ अंतर देकर किया जाय जिसमें पहले भोजन को पचने का समय मिले। जब तक एक बार किया हुआ भोजन पच न जाय, तब तक दूसरा भोजन न करना चाहिए। यदि तुमने सबेरे ६ बजे कुछ जलपान कर लिया है तो दस बजे के पहले भोजन न करो। इसी प्रकार संध्या के समय यदि कुछ जलपान कर लिया है तो रात को नौ बजे से पहले भोजन न करो। कसरत करने के पीछे तुरंत ही भोजन न करो, शरीर को थोड़ा ठिकाने हो लेने दो, तब उस पर भोजन पचाने का बोझ डालो। इस बात का ध्यान रखो कि खाने की जो चीजें आवें, वे ताजी और अच्छी हों, सड़ी गली न हों। भोजन अच्छी तरह से पका हो, कच्चा न रहे। जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें बीच बीच में मछली भी खानी चाहिए। अनाज के साथ साग, भाजी, तरकारी का रहना भी आवश्यक है। खाली सेर दो सेर दूध पी जाने की अपेक्षा उसे भोजन के साथ मिलाकर खाना अच्छा है। जाड़े के दिनों में स्निग्ध पदार्थों का सेवन कुछ बढ़ा देना चाहिए और गरमी में कम कर देना चाहिए। बिना भूख के भोजन करना ठीक नहीं। भोजन का उतना ही अंश उपकारी होता है जितना पचता है; बिना पचे भोजन से हानि को छोड़ लाभ नहीं।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि जितना ही भोजन पेट में जाय, उतना ही अच्छा; और वे दिन भर कुछ न कुछ पेट में डालने की चिंता में रहा करते हैं। फल यह होता है कि उनकी पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है और उन्हें मंदाग्नि, संग्रहणी आदि कई प्रकार के रोग लग जाते हैं।

खाद्य पदार्थों पर विचार करके अब मैं पेय पदार्थों के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। प्राचीन यूनानियों का यह सिद्धांत था कि पीने के लिये पानी से बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं। गरम देश के लोगों के लिये यह सिद्धांत बड़े काम का है। ठंढे देशों के लोग चाय, काफी, शराब आदि उत्तेजक पदार्थों का सेवन करते हैं। स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट मनुष्य के लिये उत्तेजक पदार्थों की उतनी आवश्यकता नहीं होती। थोड़ी चाय या काफी का पीना अच्छा है, क्योंकि उससे शरीर में फुरती आती है और शरीर के क्षय का कुछ अवरोध होता है। पर चाय अधिक नहीं पीनी चाहिए, अधिक पीने से भय रहता है। चाय से क्षुधा की पूर्ति होती है, इससे यात्रा आदि में उसका व्यवहार अच्छा है। एक साहब चाय की प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—"चाय पीनेवाला थोड़ा खाकर भी शरीर को बनाए रख सकता है।" पर यह स्मरण रखना चाहिए कि पानी जिस सुगमता से पिया जाता है, उस सुगमता से चाय आदि नहीं पी जा सकती। पानी सब प्रकृति के लोगों के स्वभावतः अनुकूल होता है, पर बहुत

से लोग चाय आदि नहीं पी सकते। बहुत से छात्र आज-कल रात को जागने के लिये खूब चाय पी लेते हैं। यह साधन बुरा है। कसरत के समय भी चाय नहीं पीनी चाहिए। लगातार बहुत देर तक परिश्रम करते करते यदि शरीर शिथिल हो गया हो तो थोड़ी सी चाय पी लेने से शरीर स्वस्थ हो जाता है; पर प्यास लगने पर पानी ही पीना ठीक होता है। गरमी के दिनों में थोड़ा शरबत पी लेने से शरीर में ठंढक आ जाती है और घबराहट दूर हो जाती है। सारांश यह कि खाने पीने में भी हमें उसी प्रकार विचार से काम लेना चाहिए, जिस प्रकार और सब कामों में। हमें अति कभी न करनी चाहिए और अनुभव से जो बात पाई जाय, उसी को स्वीकार करना चाहिए। केवल फलाहार करना, केवल पयाहार करना, जल ही को समस्त व्याधियों का नाशक बतलाना ये सब सनक की बातें हैं। ऐसी ऐसी बातें उन्हीं को शोभा दे सकती हैं जो कहते हैं कि मोक्ष किसी एक ही प्रकार के सांप्रदायिक विश्वास से हो सकता है। मनुष्य के लिये सब से पक्का सिद्धांत तो यह है कि वह संयम रखे। यदि कोई युवा पुरुष खान पान के असंयम द्वारा अपना सोने का शरीर मिट्टी कर दे तो यह उसका बड़ा भारी अपराध है। खान पान के विषय में जितनी व्यर्थ की बकवाद होती है, उतनी धर्म्म को छोड़कर और किसी विषय में नहीं होती। बात यह है कि जो लोग ऐसी बकवाद

किया करते हैं, वे शरीर-शास्त्र के नियमों को कुछ भी नहीं जानते। यदि युवा पुरुष थोड़ी सी जानकारी इस शास्त्र के विषय में प्राप्त कर लें, तो उन्हें फिर खान पान के विषय में बहुत सा उपदेश सुनने की आवश्यकता न रह जाय, और वे आप ही निश्चित कर लिया करें कि क्या खाना चाहिए, क्या पीना चाहिए, किससे बचना चाहिए। खान पान में समय का नियम बाँधो और सादा भोजन संयम के साथ करो।

अब मैं भाँग, शराब आदि उत्तेजक पदार्थों के विषय में दो चार बातें कहता हूँ। यह तो सर्वसम्मत है कि इनका अनियमित और अधिक मात्रा में सेवन दोषों का घर है। जिन्हें इनके अधिक सेवन की लत लग जाती है, उनका सारा जीवन सत्यानाश हो जाता है। पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि जो चित्त के उदास होने वा शरीर के शिथिल होने पर कभी थोड़ी सी ठंढाई पी लेते हैं, वे सीधे काल के मुख में ही जा पड़ते हैं। हाँ, जो लोग अपने को वश में नहीं रख सकते, जिनके लिये संयम बहुत कठिन है, जिन्हें थोड़े से बहुत करते कुछ देर नहीं, ऐसे लोगों के लिये उचित यही है कि वे एकदम बचे रहें। उत्तेजक पदार्थों से बचना युवा पुरुषों के लिये तो बहुत ही अच्छा है, पर एक चुल्लू भाँग को विष का घूँट कहना अत्युक्ति है। किसी दिन भर के थके माँदे मनुष्य को संध्या के समय थोड़ी ठंढाई पीते देख यह कहना कि 'बस अब यह चौपट हो गया' आडंबर ही जान पड़ेगा।

मैंने बहुत से बुड्ढों को देखा है जो सबेरे थोड़ी सी अफीम ले लेने से दिन भर अपना काम बड़ी फुरती के साथ करते हैं। ऐसे बुड्ढों को हम अफीमची नहीं कह सकते। ठंढे देशों के लोग भोजन के साथ, पाचन आदि के लिये, थोड़ी मात्रा में मद्य का सेवन करते हैं। उनकी वह मात्रा जब बढ़ जाती है, तब वे शराबी कहलाने लगते हैं और घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

उत्तेजक पदार्थों के पक्ष में इतना कहने के उपरांत मैं यह बतलाना आवश्यक समझता हूँ कि हृष्ट पुष्ट मनुष्य को, जिसे उपयुक्त भोजन और ताजी हवा मिलती है, तथा विश्राम और व्यायाम करने को मिलता है, ऐसे पदार्थों की आवश्यकता नहीं है। पाठक मेरे कथन में कुछ विरोधाभास देखकर चकित होंगे; पर बात यह है कि इस संसार में ऐसे लोग बहुत हैं जिनका शरीर हृष्ट पुष्ट नहीं, जिन्हें बहुत अधिक काम करना पड़ता है, जो चिंता से पीड़ित रहते हैं। ऐसे लोग उत्तेजक पदार्थों का थोड़ा बहुत सेवन करें तो हानि नहीं। चालिस वर्ष की अवस्था के उपरांत बहुत लोगों को उत्तेजक पदार्थों के सेवन की आवश्यकता होती है; क्योंकि उनसे भोजन पचता और शरीर में लगता है तथा शिथिल अंगों में काम करने की फुरती आती है। ऐसी अवस्था में भी उत्तेजक द्रव्य की मात्रा थोड़ी हो और वह क्रमशः बढ़ने न पावे।

अब रही हुक्के, सिगरेट आदि पीने की बात। इस संबंध में तो यह जानना चाहिए कि भले चंगे आदमी को तंबाकू से किसी रूप में भी कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। तंबाकू का व्यसन चाहे खाने का हो, चाहे पीने का, चाहे सूँघने का, व्यर्थ और निष्प्रयोजन ही है। इससे युवा पुरुषों को अपने कार्य्य में कोई सहायता नहीं मिल सकती। सिगरेट पीने-वाले व्यर्थ कड़ुआ धूआँ उड़ाकर परमेश्वर की स्वच्छ वायु को दूषित करते हैं और सुकुमार नासिकावालों को कष्ट पहुँचाते हैं। सुनते हैं कि चित्रकूट के पास के जंगल में दो अँगरेज सिगरेट पीते हुए सैर को निकले। रास्ते के किनारे दोनों ओर मधुमक्खियों के छत्ते थे। सिगरेट के धूएँ से मक्खियाँ इतनी बिगड़ीं कि सब छत्तों को छोड़कर निकल आईं और उन्होंने डंकों से उन दोनों साहबों को मार डाला। अधिक तंबाकू पीने से हानि होती है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। पर इक्कीस वर्ष से ऊपर की अवस्थावाले प्रायः बहुत से लोगों को परिमित मात्रा में तंबाकू पीने से कोई हानि नहीं पहुँचती। पर यदि हानि न भी पहुँचे तो भी लाभ कोई नहीं है।

इस देश में पान खाने की प्रथा बहुत दिनों से है। भोजन के उपरांत लोग पान खाते हैं, आए गए का सत्कार भी पान इलायची देकर करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भोजन के पीछे वा कुछ खाने के पीछे दो बीड़े पान खा लेने से मुख

शुद्ध हो जाता है, मुख में किसी प्रकार की दुर्गंध नहीं रह जाती और भोजन के उपरांत जो एक प्रकार का आलस्य वा भारीपन आता है, वह दूर हो जाता है। पान पाचन में भी सहायता देता है। पर अधिक मात्रा में पान खाना हानि-कारक होता है। बहुत अधिक पान खाने से अग्नि मंद हो जाती है, भूख पूरी नहीं लगती, एक प्रकार की घबराहट सी बनी रहती है जिससे किसी काम में चित्त नहीं लगता, जीभ स्तब्ध हो जाती है जिससे शब्दों का उच्चारण अस्पष्ट और रुक रुककर होने लगता है। जिस प्रकार ऐसे लोग मिलते हैं जो दिन रात क्षण क्षण पान चबाया करते हैं, उसी प्रकार ऐसे लोग भी मिलते हैं जो पान के नाम से कोसों दूर भागते हैं और सौ तरह से नाक भौं सिकोड़ते हैं। पहले प्रकार के लोगों पर यदि दुर्व्यसन सवार रहता है, तो दूसरे प्रकार के लोगों पर अपने को संयमी प्रकट करने की एक झूठी धुन।

अब मैं व्यायाम का विषय लेता हूँ जिस पर ध्यान देने की विद्यार्थी वा युवा पुरुष को सब से अधिक आवश्यकता है। शरीर और चित्त की स्वस्थता, मन की फुरती और शक्ति की उमंग, बुद्धि की तीव्रता और मनन शक्ति की सूक्ष्मता इत्यादि नियमित व्यायाम ही से हो सकती है। व्यायाम भी हमारी शिक्षा का एक अंग है। जैसे खाने और सोने के बिना हमारा काम नहीं चल सकता, वैसे ही व्यायाम के बिना भी नहीं चल सकता। व्यायाम ही के द्वारा हम अपने अंगों,

अवयवों और नाड़ियों की शक्ति को स्थिर रख सकते हैं। व्यायाम ही के द्वारा हम शरीर के प्रत्येक भाग में रक्त का संचार समान रूप से कर सकते हैं; क्योंकि व्यायाम से पेशियों का दबाव रक्तवाहिनी नाड़ियों पर पड़ता है जिससे रक्त का संचार तीव्र होता है। व्यायाम ही के सहारे जीवन सुखमय प्रतीत हो सकता है, क्योंकि व्यायाम से पाचन में सहायता मिलती है और पाचन ठीक होने से उदासी नहीं रह सकती। व्यायाम ही के प्रभाव से मस्तिष्क अपना काम ठीक ठीक कर सकता है। संसार में जितने प्रसिद्ध पुरुष हो गए हैं, सब ने व्यायाम का कोई न कोई ढंग निकाल रखा था। गोस्वामी तुलसीदास का नियम था कि नित्य सबेरे उठकर वे शौच के लिये कोस दो कोस निकल जाते थे। शौच ही से लौटते समय उनका प्रेत से साक्षात्कार होना प्रसिद्ध है। भूषण कवि को घोड़े पर चढ़ने का अच्छा अभ्यास था। महाकवि भवभूति को यदि विंध्य पर्वत की घाटियों में घूमने का अभ्यास न होता, तो वे दंडकारण्य आदि का ऐसा सुंदर वर्णन न कर सकते। महाराज पृथ्वी-राज शिकार खेलते खेलते कभी कभी अपने राज्य की सीमा के बाहर निकल जाते थे। जब तक तुम आनंददायक और नियमित व्यायाम द्वारा अपने को स्वस्थ न कर लिया करोगे, तब तक तुम्हारा अंग वा तुम्हारा मस्तिष्क ठीक नहीं रह सकेगा, तुम बातों का ठीक ठीक विचार और उचित निर्णय

नहीं कर सकोगे। पीले पड़े हुए छात्र से मैं यही कहूँगा—'गेंद खेलो, कबड्डी खेलो, पेड़ों में पानी दो, किसी न किसी तरह की कसरत करो।'' जो शारीरिक परिश्रम तुमसे सहज में हो सके, उसी को कर चलो; शरीर को किसी न किसी तरह हिलाओ डुलाओ। मुझसे जो पूछते हो तो मैं टहलना वा घूमना सबसे अधिक स्वास्थ्यवर्धक और आनंददायक समझता हूँ; पर तुम रुचि के अनुसार फेरफार कर लिया करो। कभी उछलो कूदो, कभी निशाना लगाओ, कभी तैरो, कभी घोड़े की सवारी करो। यह कभी न कहो कि तुम्हें समय नहीं मिलता या तुम्हारे पढ़ने में रुकावट होती है। पढ़ने में रुकावट जरूर होती है, पर यह रुकावट होनी चाहिए। यह न कहो कि व्यायाम तुमसे हो नहीं सकता। तुमसे हो नहीं सकता, इसी लिये तो तुम्हें करना चाहिए। बुद्धि को पुराने समय की पोथियों के बोझ से दबाने की अपेक्षा उत्तम यह होगा कि तुम थोड़ा शरीर-विज्ञान जान लो और स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लो। तब तुम्हें मालूम होगा कि नौ नौ दस दस घंटे तक सिर नीचा किए और कमर झुकाए हुए इस प्रकार बैठे रहने से कि नाड़ियों का रक्त स्तंभित होने लगे, तुम बहुत दिनों तक पृथ्वी पर नहीं रह सकते।

पाठक व्यायाम के लाभों को अच्छी तरह समझकर मुझसे इसके नित्य-नियम के विषय में पूछेंगे। वे कहेंगे कि हम टहलने को तो तैयार हैं, पर यह जानना चाहते हैं कि

कितनी दूर तक और कितनी देर तक टहलें। यहाँ मैं फिर भी यही बात कहता हूँ कि हर एक की प्रकृति जुदा जुदा होती है; इससे कोई ऐसा नियम बताना, जो सब को बराबर अनुकूल पड़े, प्रायः असंभव सा है। मैं बहुतों को जानता हूँ जिन्हें अत्यंत अधिक कसरत करने से उतनी ही हानि पहुँची है जितनी न करने से पहुँचती है। पहले पहल एकबारगी बहुत सा श्रम करने लगना हानिकारक क्या भयानक है। जो मनुष्य कई सप्ताह तक बराबर कलम दावात लिए बैठा रहा है, उसका एकबारगी उठकर बड़ी लंबी दौड़ लगाना ठीक नहीं है। यदि किसी कारण से शारीरिक परिश्रम कुछ दिन तक बराबर बंद रहा हो, तो उसे फिर थोड़ा थोड़ा करके आरंभ करना चाहिए और सामर्थ्य देखकर धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए। एक डाक्टर की राय है कि एक भले चंगे आदमी के लिये नित्य नौ मील तक पैदल चलना बहुत नहीं है। इस नौ मील में वह चलना फिरना भी शामिल है जो काम काज के लिये होता है। पर जो लोग मस्तिष्क वा बुद्धि का काम करते हैं, उनके लिये नित्य इतना अधिक परिश्रम करना न सहज ही है और न निरापद ही। मैं तो समझता हूँ कि नित्य के लिये कोई हिसाब बाँधना उतना उपकारी नहीं है। यदि टहलते समय हमें इस बात का ध्यान रहेगा कि आज हमें इतने मील अवश्य चलना है, तो टहलना भी एक बोझ या कोल्हू के बैल का चक्कर हो जायगा। जो बात आनंद

के लिये की जाती है, वह इस प्रतिबंध के कारण पिसाई हो जायगी। मनुष्य को दो घंटे खुली हवा में बिताने चाहिएँ और उन दो घंटों के बीच कोई हलका परिश्रम करना चाहिए तथा किसी प्रकार के प्रतिबंध वा हिसाब का भाव चित्त में न आने देना चाहिए। तीन मील प्रति घंटे के हिसाब से टहलना अच्छा है।

एक डाक्टर ने जिन जिन अंगों पर परिश्रम पड़ता है, उनके अनुसार व्यायाम के तीन भेद किए हैं। पहला वह जिसमें शरीर के सब भागों पर समान परिश्रम पड़ता है; जैसे तैरना, कुश्ती लड़ना, पेड़ पर चढ़ना। दूसरा वह जिसमें हाथ पैर को परिश्रम पड़ता है; जैसे गेंद खेलना, निशाना लगाना आदि। तीसरा वह जिसमें पैर और धड़ पर जोर पड़ता है, ऊपर का भाग केवल सहायक होता है; जैसे उछलना, कूदना, दौड़ना, टहलना आदि। इन तीनों में से प्रत्येक प्रकार का व्यायाम रुचि और अवस्था के अनुसार चुना जा सकता है। यह बात भी देखनी चाहिए कि किस प्रकार की कसरत लगातार कुछ देर तक हो सकती है, किस प्रकार की कसरत से मन में फुरती आती है और किस प्रकार की कसरत सहज में और सब जगह हो सकती है। इन सब बातों पर विचार करने से टहलना ही सब से अच्छा पड़ता है। पर फेर फार के लिए और और प्रकार का परिश्रम भी बीच में कर लेना अच्छा है। जिमनास्टिक वा लकड़ो पर की कसरत को मैं

बहुत अच्छा नहीं समझता; क्योंकि एक तो वह अस्वाभाविक कृत्रिम) है, दूसरे उसमें श्रम अत्यंत अधिक पड़ता है।

स्नान का स्वास्थ्यवर्द्धक गुण सब स्वीकार करते हैं, इससे उसके संबंध में अति के निषेध के सिवा और बहुत कुछ कहने की जरूरत नहीं है। बहुत से युवा पुरुष जब नदी तालाब आदि में पैठते हैं, तब बहुत देर तक नहीं निकलते। यह बुरा है। इससे त्वचा की क्रिया में सुगमता नहीं, बाधा होती है। भोजन के उपरांत तुरंत स्नान नहीं करना चाहिए। ठंढे पानी से स्नान उतना ही करना चाहिए जितने से नहाने के पीछे खून में मामूली गरमी जल्दी आ जाय। मनुष्य के रक्त में साधारणतः ९८ या ९९ दरजे की गरमी होती है। यदि यह गरमी बहुत घट जाय या बढ़ जाय तो मनुष्य की अवस्था भयानक हो जाय और वह मर जाय। ठंढे पानी में स्नान करने से त्वचा शीतल होती है, पर साथ ही खून की गरमी बढ़ती है। पर थोड़ी देर पानी में रहने के पीछे खून की गरमी घटने लगती है, नाड़ी मंद हो जाती है और एक प्रकार की शिथिलता जान पड़ने लगती है। पानी से निकलने पर खून में गरमी आने लगती है और शरीर में फुरती जान पड़ती है। तौलिए या अँगोछे की रगड़ से यह गरमी जल्दी आ जाती है। गरम पानी से नहाने से इसका उलटा असर होता है। नहाते समय त्वचा और रक्त दोनों की गरमी साथ ही बढ़ती है, नाड़ी तीव्र होती है। गरम पानी

से निकलने से त्वचा अत्यंत सुकुमार हो जाती है और रक्त-वाहिनी नाड़ियों के फिर ठंढी होकर सिकुड़ने वा स्तब्ध होने का भय रहता है। इससे गरम पानी से नहाने के पीछे शरीर को कपड़े से ढक लेना चाहिए वा किसी गरम कोठरी में चला जाना चाहिए, एकबारगी ठंढी हवा में न निकल पड़ना चाहिए।

हृष्ट पुष्ट मनुष्य को सबेरे ठंढे पानी में स्नान करने से बड़ी फुरती रहती है, पर अशक्त और दुर्बल मनुष्यों तथा गठिया आदि के रोगियों को इस प्रकार के स्नान से बहुत भय रहता है। स्नान करना बहुत ही अधिक लाभकारी है, पर यदि समझ बूझकर किया जाय तो। अत्यंत अधिक स्नान करने से शरीर की अवस्था का विचार करने से, लाभ के बदले हानि होती है।

स्वास्थ्य के संबंध में जितनी आवश्यक बातें थीं, उनका उल्लेख मैं संक्षेप में कर चुका। केवल एक निद्रा का विषय और रह गया है। भला चंगा आदमी जैसे यह नहीं जानता कि पेट कैसे बिगड़ता है, वैसे ही वह यह भी नहीं जानता कि लोगों को नींद कैसे नहीं आती है। नींद के लिये उसे कोई उपाय करने की आवश्यकता ही नहीं होती। खेद के साथ कहना पड़ता है कि मस्तिष्क से काम करनेवाले लोग नींद की चिंता और चर्चा बहुत किया करते हैं; क्योंकि उन्हें नींद बार बार बुलाने पर भी नहीं आती। वे एक करवट से दूसरी करवट बदला करते हैं, थकावट से उनके अंग अंग शिथिल

रहते हैं, पर नींद उनके पास नहीं फटकती। नींद भी क्या सुंदर वस्तु है! जिस समय हम नींद में झपकी लेते हुए बिस्तर पर पड़ते हैं, उस समय कैसी शांति मिलती है! हम हाथ पैर हिलाना डुलाना नहीं चाहते, एक अवस्था में कुछ देर पड़े रहना चाहते हैं। संज्ञा भी धीरे धीरे विदा होने लगती है, चेतना हमें छोड़कर अलग जा पड़ती है और न जाने कहाँ कहाँ भरमती है। जब मनुष्य देखे कि उसे नींद जल्दी नहीं आती तो उसे तुरंत उसके कारण का पता लगाना चाहिए। क्योंकि नींद की ही एक ऐसी अवस्था है जब मस्तिष्क की शक्ति के क्षय की पूर्ति होती है। यदि पूर्ति न होगी तो पागल होने में कुछ देर नहीं। मस्तिष्क का काम करनेवालों को हाथ पैर का काम करनेवालों की अपेक्षा नींद की अधिक आवश्यकता होती है। पर जिनको अधिक आवश्यकता होती है, उन्हीं को नींद न आने की शिकायत भी होती है। तब फिर ऐसे लोगों को करना क्या चाहिए? जिसे उन्निद्र रोग हो, उसे अपने रोग के कारण का पता लगाना चाहिए और सोने के पहले उसे गरम पानी से स्नान कर लेना वा थोड़ा टहल आना चाहिए। कभी कभी कोठरी बदल देने से भी उपकार होता है। ऐसे रोगी को नींद लाने के लिये अफीम, मरफिया आदि का सेवन कभी नहीं करना चाहिए।

अब यह बात अच्छी तरह से प्रमाणित हो गई है कि निद्रा मस्तिष्क के रक्तकोशों के खाली होने से आती है; अर्थात्

मस्तिष्क में जब रक्त नहीं पहुँचता, तभी निद्रा आती है। इससे निद्राभिलाषी रोगी को चाहिए कि वह कोई ऐसा काम न करे जिससे मस्तिष्क में रक्त का संचार तीव्र हो। यदि ऐसा रोगी अच्छी तरह पता लगाकर देखेगा, तो उसे मालूम होगा कि उसके रोग का कारण काम का अधिक बोझ, व्यायाम का अभाव, रात को बहुत देर तक पढ़ना लिखना, बंद कमरे में बहुत देर तक बैठना इन्हीं में से कोई है। जब कारण मालूम हो जायगा, तब उपाय सुगम हो जायगा। पर यदि उन्निद्रता की मात्रा बहुत अधिक बढ़े तो समझना चाहिए कि शरीर में कोई व्याधि लग गई है और तुरंत किसी अच्छे चिकित्सक को दिखाना चाहिए। मैं यहाँ पर ऐसे उन्निद्र रोग की चर्चा करता हूँ जो प्रायः लिखने पढ़नेवाले लोगों को उनकी भूलों के कारण हो जाया करता है। रात को बहुत देर तक काम करने या सोने के समय मन में बहुत सी बातों की चिंता रखने से यह रोग प्रायः हो जाता है। कभी कभी छात्रगण साँस लेने के लिये कैसी और कितनी हवा चाहिए, इसका कुछ भी ध्यान नहीं रखते। वे जाड़े के दिनों में कोठरी के किवाड़ बंद करके सो रहते हैं, जिससे उन्हें साँस लेने के लिये ताजी हवा नहीं मिलती।

अब यह प्रश्न रहा कि कितने घंटे सोना चाहिए। इसका भी कोई ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता जो सब लोगों पर बराबर ठीक घटे। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनमें अधिक

काम करने की शक्ति होती है और जो कम सोते हैं। सोने की आवश्यकता जब पूरी हो जाती है तब प्रकृति प्रायः आप से आप जगा देती है। पर साधारणतः यह कहा जा सकता है कि लिखने पढ़नेवाले लोगों को कम से कम ७ घंटे सोने की आवश्यकता होती है। यदि वे ग्यारह बजे सोवेंगे तो ६ बजे उठ जाने में उन्हें कोई कठिनता न होगी। जाड़े के दिनों में यदि सबेरे आधा घंटा और सोया जाय तो कोई हर्ज नहीं है। कृष्ण पक्ष में शुक्ल पक्ष की अपेक्षा सोने की अधिक आवश्यकता होती है। सबेरे उठना बहुत अच्छी बात है, पर इस प्रकार सबेरे उठना नहीं कि सोने के लिये पूरा समय ही न मिले। सबेरे वही उठ सकता है जो रात को जल्दी सो जाता है। यदि विद्यार्थी दस बजे दीया बुझा दे, तो पाँच बजे सबेरे उठ सकता है।